हिन्दी साहित्य :
प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ

लेखक
श्री शिवनन्दन प्रसाद, एम० ए०
पटना विश्वविद्यालय

प्रकाशक
श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड
पटना—४

मूल्य ४)

दिवंगता जननी

की

पुण्य-स्मृति में

मेरे ये निबन्ध

'हिन्दी-साहित्य : प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ' मेरे तेइस आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह है। मध्यकालीन आर्यभाषा-परम्परा, डिंगल साहित्य और पृथ्वीराज रासो, विद्यापति की काव्यधारा, भक्ति-मार्गी शाखाओं का उद्भव, जायसी का प्रेमकाव्य, तुलसी की समन्वय-साधना, हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद का विकास, छायावाद और प्रगतिवाद, प्रगतिशील साहित्य, गुप्तजी की प्रगतिशील भावना, महादेवी की काव्यसाधना, हिन्दी का वीर साहित्य तथा प्रेमचन्द का गोदान—ये निबन्ध लगभग १९४०-४१ ई० के हैं तथा १९४५ ई० में प्रकाशित मेरे प्रथम निबन्ध-संग्रह 'साहित्य-वातायन' में संकलित हैं। शेष निबन्धों में से अधिकांश १९५० ई० के बाद के हैं। यद्यपि इनमें से कई पत्र-पत्रिकाओं में छप चुके हैं, फिर भी, आशा है, इनका नवीन, पुस्तकाकार प्रकाशन पाठक पसन्द करेंगे।

बन्धुवर नलिनजी ने प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका में मेरे संबंध में जो प्रशंसा के शब्द कहे हैं, वे स्नेहातिरेक के फल हैं, क्योंकि मैं जानता हूँ, मैं कितने गहरे पानी में हूँ। अग्रज-तुल्य नलिनजी को धन्यवाद देने की धृष्टता करूँ, इसकी अपेक्षा नहीं।

यों, मैं उन सभी सज्जनों के प्रति आभारी हूँ, जिनकी सहायता पुस्तक की रचना या प्रकाशन में किसी भी रूप में मुझे मिली है।

हिन्दी विभाग
पटना विश्वविद्यालय

शिवनंदन प्रसाद
१०-१०-५५

भूमिका

प्राचार्य शिवनंदन प्रसाद मेरे विद्वान् सहयोगी और सहृदय मित्र हैं। उनके इस महत्त्वपूर्ण प्रबंध-संग्रह को आपके समक्ष प्रस्तुत करने का अवसर पाकर मैं परम प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ।

संगृहीत निबंधों में से प्रायः सभी हिंदी की प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। हिंदी की समसामयिक आलोचना की व्यक्ति और शक्ति परखनेवालों का ध्यान इन निबंधों ने आकृष्ट किया है। संग्रह-रूप में अप्रकाशित रहने के कारण इनके लेखक को हिंदी के वर्त्तमान आलोचकों के बीच उस महत्त्वपूर्ण स्थान को अधिकृत करने का अवसर नहीं मिल पाया है जो उसका प्राप्य है। शिवनंदनजी के इस संग्रह के प्रकाशन से हिंदी आलोचना के मंदिर में एक नया दीप जला है।

शिवनंदनजी ने 'अमूल' और 'अनपेक्षित' नहीं लिखना अपना सिद्धांत रखा है। इस सिद्धांत पर दृढ़ रहनेवाला लक्ष्य की ओर बढ़ते चलने में सहज ही सफल होता है। शिवनंदनजी की उपलब्धि का यही रहस्य है। उनके प्रारंभिक निबंधों तक में उनके इस सिद्धांत का सम्यक् निर्वाह हुआ है, प्रस्तुत संग्रह के प्रौढ़ निबंधों की तो यह उल्लेख्य विशेषता ही है।

शिवनंदनजी सावधानी के साथ लक्ष्य-संधान करते हैं। उनका लक्ष्य-संधान समय लेता है, पर अमोघ सिद्ध होता है। वे पूर्वाग्रहों से मुक्त, किंतु दृढ़ बने रहते हैं। उनकी स्वस्थ विवेकशीलता अपकर्षकारक अतिरेक में कभी स्खलित नहीं होती। उनके अतिशय सीमित वाक्यों में भी सुनिर्णीत अत्यंता रहती है।

संग्रह का पहला निबंध है 'हिंदी साहित्येतिहास की नई दिशा'। इसमें सामान्यतः साहित्यिक इतिहास और विशेषतः हिंदी के साहित्यिक इतिहास की समस्याओं का सारगर्भ विवेचन करते हुए अधीती लेखक ने यह प्रश्न उठाया है कि साहित्यिक इतिहास में लोक-साहित्य कहाँ तक विचारणीय है।

इस प्रश्न का सविस्तर समाधान संग्रह के दूसरे निबंध, 'हिंदी के साहित्येतिहास में लोक-साहित्य का विवेचन' में प्रस्तुत किया गया है। लेखक की यह स्थापना हिंदी साहित्य के भावी इतिहासकारों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी— "हिंदी-साहित्य का इतिहास-लेखक लोक साहित्य की पीठिका में शिष्ट-साहित्य

को देखे बिना न तो शिष्ट-साहित्य के प्रति न्याय करेगा, न लोक-साहित्य के प्रति।"

इसके बाद के दो निबंधों, 'मध्यकालीन आर्य-भाषा परंपरा' और 'आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाएँ' में शिवनंदनजी ने हिंदी-साहित्य का वह भाषावैज्ञानिक पृष्ठाधार प्रस्तुत किया है जिसके परिचय के अभाव में संबद्ध साहित्य का अनुशीलन 'अमूल' सिद्ध हो सकता है।

फिर 'डिंगल साहित्य और पृथ्वीराज रासो', 'रासो ग्रंथों की परंपरा' और 'विद्यापति की काव्य-धारा' शीर्षक तीन निबंधों में लेखक ने हिंदी के आरंभिक युग के साहित्य का अभिनव मूल्यांकन किया है, जिसमें उसकी साहित्यिक इतिहास संबंधी मान्यताओं और आलोचनात्मक आदर्शों का व्यावहारिक निदर्शन हुआ है।

आगे के सात निबंधों में हिंदी साहित्य के भक्तिकाल की अनेक ग्रंथियाँ सुलझाई गई हैं और इस काल के प्रमुख व्यक्तित्वों का पुनर्मूल्यांकन प्रचेष्टित है। 'भक्ति-साहित्य का पूर्वरंग और भक्तिमार्गी शाखाओं का उद्भव', 'वैष्णव भक्ति का विकास और हिंदी के भक्त कवि', 'जायसी का प्रेम-काव्य', 'सूरदास की काव्य-माधुरी', 'सूर-साहित्य में रहस्यवाद', 'सूर-साहित्य का पुनर्मूल्यांकन' और 'तुलसी की समन्वय-साधना' शीर्षक इन सात निबंधों में, हिंदी के भक्ति-साहित्य विषयक पहले दो और सूर-संबंधी तीन निबंध, गवेषणात्मक अनुशीलन और मौलिक आलोचनात्मक दृष्टि के दुर्लभ समन्वय के परिणाम हैं। 'सूर-साहित्य का पुनर्मूल्यांकन' शीर्षक एक ही प्रबंध 'प्रबंधशतायते' ! शिवनंदनजी के वैदुष्य की जिन विशेषताओं का प्रारंभ में ही संकेत किया जा चुका है उनका चरम उत्कर्ष इस प्रबंध में लक्षित होता है। लेखक ने दृढ़ता के साथ शुक्लजी की सूर-संबंधी उस स्थापना का खंडन किया है जिसके आगे या भिन्न दिशा में हिंदी का परिमाण-बहुल सूर-विषयक आलोचनात्मक साहित्य बढ़ नहीं पा रहा था। शुक्लजी के समान ही, मैं कह चुका हूँ, स्वयं शिवनंदनजी में भी निष्कर्ष की सुनिर्णीत अत्यंता है। फलतः मुझे आश्चर्य नहीं होगा यदि सूर-विषयक शिवनंदनजी की नई स्थापना आगे काफी दिनों तक के लिए स्थायी-सी बनी रहे।

शेष निबंध, 'हिंदी गद्य-शैली का सूत्रपात' 'हिंदी-साहित्य में रहस्यवाद का विकास' आदि, हिंदी-साहित्य के आधुनिक काल की प्रवृत्तियों का निर्भ्रांत विवरण और सूक्ष्म विश्लेषण उपस्थित करते हैं। साधारणतः विवरण और विश्लेषण का युगपत व्यवहार कठिन सिद्ध होता है। विवरण का आच्छादन विश्लेषण के

लिए गुंजायश नहीं रहने देता और विश्लेषण को विवरण के लिए धैर्य नहीं रहता। शिवनंदनजी ने अपने सभी निबंधों में, और इन निबंधों में विशेष रूप से, परस्पर-विरोधी-सी लगनेवाली आलोचनात्मक प्रक्रियाओं को मिलकर महत्त्व-पूर्ण परिणाम प्रस्तुत करने के लिए सफलतापूर्ण शासित किया है।

अपने एक मित्र से अपनी पुस्तक की भूमिका लिखाने से जो क्षति हो सकती है उसके लिए शिवनंदनजी तैयार रहे ही होंगे: मैं अनजाने भी पक्षपात न करूँ इसका मुझे इतना ध्यान रहा है कि, मुझे भय है, मैंने तथ्यनिर्देश की सीमा में ही अपने को आबद्ध रखा है और उचित होने पर भी लेखक की थोड़ी भी श्लाघा से बचा हूँ।

किंतु मुझे विश्वास है, जिससे मैंने उन्हें वंचित किया है वह प्रभूत मात्रा में उन्हें वाग्विदों से मिलेगी।

—नलिन विलोचन शर्मा

विषय-सूची

हिन्दी के साहित्येतिहास की नई दिशा

इतिहास नश्वर को अमरता प्रदान करने का प्रयास मात्र नहीं, भावी निर्माण के कारणभूत वर्त्तमान के लिए अतीत-सन्देश की पीठिका भी है। इतिहास की सीख वर्तमान को वह दृष्टि और गति प्रदान करती है जिससे भविष्य के स्वप्न साकार होते हैं। अमरता का आकांक्षी मर्त्य परिवर्त्तनशील समय की एक-एक भंगिमा को अर्थपूर्ण शब्दों में जब तटस्थ दृष्टि से यथातथ्य रूप में बाँध रखने का प्रयास करता है, तब इतिहास आकार धारण करता है।

इतिहास शब्द यद्यपि भारतवर्ष के लिए पुराना है फिर भी प्राचीन भारत में इतिहास-लेखन की परिपाटी का अभाव-सा था। यों 'इतिहास' का (इति+ह+आस) 'आस' शब्द वैदिक काल का है। ऋक्-संहिता में, जो संसार का प्राचीनतम ग्रन्थ कहा जाता है इतिहास शब्द का प्रयोग हुआ है—

तत्र ब्रह्मे तिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथा मिश्रं भवति।

छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय के आरम्भ में उल्लेख है कि जब नारद मुनि सनत्-कुमार के पास ब्रह्म-विद्या पढ़ने के लिए गए थे तब उनसे पूछा गया था कि उन्होंने कौन-कौन-सी विद्याएँ सीखी थीं। उत्तर में नारद मुनि ने चारों वेदों के साथ इतिहास-पुराण नामक पंचमवेद का भी उल्लेख किया था। शतपथ ब्राह्मण में इतिहास को एक कला माना है। राजशेखर

की काव्य-मीमांसा[1] में चार उपवेदों में इतिहास-वेद का भी उल्लेख है। यास्क के निरुक्त ग्रन्थ में इतिहास शब्द और ऐतिहासिक मत की चर्चा है। वेदों का अध्ययन इतिहास-पुराण के बिना अधूरा कहा गया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इतिहास-वेद की गणना अथर्ववेद के साथ कर इसमें पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र को अन्तर्भुक्त किया गया है। परन्तु इतना होते हुए भी प्राचीन काल में इतिहास-लेखन की परम्परा का हम अभाव पाते हैं। इस अभाव का कारण भारतवर्ष में निवृत्ति मार्ग की प्रधानता को हम कह सकते हैं; जिसके फलस्वरूप प्रवृत्ति-परक इहलौकिक इतिहास-लेखन की प्रवृत्ति यहाँ नहीं रही। शस्य-श्यामला देश की समृद्धि के कारण जीवन के लिए संघर्ष का यहाँ अपेक्षाकृत अभाव रहा। अतः भौतिक शास्त्रों के बजाय अध्यात्मविद्या की ओर मनीषियों की रुचि अधिक रही। समय-निर्देश के लिए कोई सर्वमान्य संवत् का अभाव भी इतिहासलेखन की प्रवृत्ति में बाधक रहा; क्योंकि विक्रम संवत् और शालिवाहन शक के आरम्भ के पूर्व भारत में नास्तिक महावीर और बुद्ध के अनुसार प्रचलित जो संवत् थे वे आस्तिकों को ग्राह्य नहीं हो सके। इसीलिए प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थों में समय-निर्देश का न होना स्वाभाविक है। प्राचीनकाल में, इसके अतिरिक्त, इतिहास-लेखन की सामग्री का भी अपेक्षाकृत अभाव था। यातायात के साधन, छापाखाना, अनुसन्धान की विधियाँ, वर्त्तमान ढंग के म्यूजियम, सिक्के, ताम्र-पत्र, प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों आदि के संग्रहालय का प्रबन्ध आज जैसा नहीं था। जब राजनीतिक और सामाजिक इतिहास-लेखन के लिए वातावरण उपयुक्त नहीं था तो फिर साहित्य का इतिहास लिखने की प्रवृत्ति कैसे पनप सकती थी? प्राचीन ग्रन्थकारों ने अपने चरित्र और ग्रन्थ तथा समकालीन व्यक्तियों और लेखकों के सम्बन्ध में बहुत कम लिखा है। उस समय के लेखक की सामान्य प्रवृत्ति निम्नलिखित कथन से प्रकट होती है—

"जीवितकवेराशयो न वर्णनीयः"

संस्कृतकाल में इसीलिए साहित्यिक इतिहास लिखने का रिवाज हम नहीं पाते। बाद में भी, बहुत दिनों तक, साहित्येतिहास-लेखन की परम्परा का पता नहीं चलता। प्राचीन भाषाओं में प्रचलन न रहने के कारण हिन्दी-साहित्य में

---

१ राजशेखर का काव्य-मीमांसा में इतिहास का लक्षण इस प्रकार दिया है—पुराण-प्रविभेद एवेतिहासः।

भी बहुत दिनों तक साहित्यिक इतिहास लिखने का उद्योग नहीं हुआ। आधुनिक काल में कुछ पाश्चात्य प्रभाव से और कुछ शिक्षा-प्रसार, साहित्य-विस्तार आदि कारणों की अनिवार्यता से इस ओर प्रयत्न आरम्भ हुए।

यों जायसी ने अपने पूर्ववर्ती प्रेमकाव्य के कवियों का उल्लेख किया है; नाभादास के द्वारा भक्तमाल में भक्तों और कवियों का पद्यबद्ध विवरण मिलता है; गोकुलनाथ ने 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में पुष्टिमार्ग में दीक्षित वैष्णवों के जीवन-चरित्र पर प्रकाश डाला है और कुछ लेखकों द्वारा अनेक कवियों की नामावली और काव्य-संग्रह भी प्राप्त हुए हैं; किन्तु इन्हें इतिहास नहीं कहा जा सकता[1], क्योंकि ये उल्लेख धर्म-भावना, काव्यरूढ़ि आदि की दृष्टि से हुए हैं—साहित्य-परम्परा के ऐतिहासिक विकास के अध्ययन के उद्देश्यसे नहीं। सच पूछिए तो हिन्दी-साहित्य का इतिहास विक्रम की १९वीं शताब्दी तक नहीं लिखा गया। संवत् १८९६ में, फ्रेंच भाषा में लिखित, 'इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐंदुई एँ ऐंदुस्तानी' का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। इसके लेखक गार्सां द तासी थे। इसका दूसरा भाग संवत् १९०३ में सामने आया। इसमें साहित्य की प्रवृत्तियों का निरूपण नहीं, केवल जीवनी तथा काव्य के उदाहरण हैं। इसमें ७० कवियों की चर्चा हुई है। हिंदी मे कवियों का प्रथम जीवन-वृत्त-संग्रह महेशदत्त शुक्ल के द्वारा संग्रहीत 'भाषा-काव्य-संग्रह' में देखने में आया। इसमें रचनाओं का संग्रह भी था। इसका प्रकाशन संवत् १९३० में हुआ। संवत् १९४० में शिवसिंह सेंगर ने पहली बार हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की भूमिका तैयार की। उनके ग्रन्थ 'शिवसिंह सरोज' में प्राय: १००० कवियों की चर्चा है। छ: वर्ष बाद डॉ० (बाद में 'सर') जार्ज ग्रियर्सन ने अंग्रेजी में "मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ नौर्दर्न हिन्दुस्तान" नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें ९५२ कवियों की चर्चा थी। इसमें काल-निर्देश और प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन भी कुछ-कुछ हुआ है। पंडित रामचंद्र शुक्ल के अनुसार ये पिछले दोनों ग्रन्थ कविवृत्त-संग्रह मात्र कहे जा सकते हैं—इतिहास नहीं; क्योंकि इनमें कवियों और रचनाओं के विवरण मात्र दिए गए हैं, उनको किसी एक ही जीवन्त प्रवाह के चिह्न-रूप में देखने का प्रयत्न नहीं किया गया है। यों तो बाबू श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित 'हिन्दी कोविन्द रत्नमाला' में भी इस प्रकार का वृत्त-संग्रह हुआ है।

---

१ डॉ० रामकुमार वर्मा—"हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास।"

१९वीं सदी के बाद से ही काशी नागरी प्रचारिणी सभा के तत्वावधान में पुराने ग्रंथों की खोज का कार्य आरम्भ हुआ जिससे बहुत से अज्ञात कवियों एवं ग्रन्थों का पता चला। सभा की खोज-रिपार्टों के आधार पर संवत् १९७० (सन् १९१३ ई०) में मिश्रबंधुओं के 'विनोद' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ। इसका चौथा भाग सम्वत् १९९१ में प्रकाशित हुआ। इसमें कुल मिलाकर लगभग २२५० पृष्ठ हैं और ४५९१ कवियों कावर्णन है। बाद में तो ५००० से अधिक कवि समाविष्ट हो गए। इतिहास तो इस पुस्तक को भी नहीं कहा जा सकता। यह भी कविवृत्त-संग्रह मात्र है, क्योंकि इसमें कवियों का वर्गीकरण तो हुआ है, उनका ऐतिहासिक आलोक में मूल्यांकन नहीं और न साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकासादि का सम्यक् विवेचन ही। मिश्रबन्धुओं का 'हिंदी नवरत्न' संवत् १९६७ में प्रकाशित हुआ। सम्वत् १९७४ में पं० रामनरेश त्रिपाठी की कविता-कौमुदी सामने आई। इसमें १३८ कवियों का विवरण था। पर इतिहास-लेखन की दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई। सम्वत् १९७५ में एडविन ग्रिव्स ने "ए स्केच ऑफ हिन्दी लिटरेचर" लिखा। इसमें ११२ पृष्ठ थे। हिन्दी साहित्य के इतिहास को ग्रिव्स महोदय ने पाँच भागों में बाँटा, धार्मिक-काल के दो भाग हुए। हिन्दी के भविष्य पर भी एक अध्याय रखा गया। सम्बत् १९७७ में एफ० ई० की. की पुस्तक 'ए हिस्ट्री आफ हिन्दी लिटरेचर' देखने में आई। इसकी पृष्ठसंख्या ११६ थी। इसमें प्रवृत्तियों का थोड़ा बहुत विवेचन भी हुआ है। किन्तु सचमुच हिन्दी-साहित्य का क्रमबद्ध इतिहास 'हिन्दी-शब्द-सागर' की भूमिका के रूप में सम्वत् १९८६ में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रस्तुत किया जो बाद में परिवर्द्धित रूप में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। साहित्य की धाराओं और प्रवृत्तियों का क्रमबद्ध निरूपण और उनके ऐतिहासिक विकास का यथोचित वर्णन प्रथम बार इस पुस्तक में दृष्टिगत हुए। इसे ही अपने सच्चे अर्थों में हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास कह सकते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखित यह हिन्दी-साहित्य का इतिहास पहली बार राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक परिस्थितिओं के साथ साहित्य की धाराओं, प्रवृत्तियों का सम्बन्ध स्थपित करने का प्रयास करता है और युग की प्रधान प्रवृत्ति एवं साहित्मिक वातावरण के आधार पर काल-विभाजन तथा काल का नामकरण करता है। पं० राम चन्द्र शुक्ल के अनुसार साहित्य के इतिहास की परिभाषा इस प्रकार है—

'जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्त्तन के

साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामञ्जस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है[1]।" इसी दृष्टिकोण को शुक्लजी ने अपने इतिहास में व्यावहारिक रूप दिया है। यों त्रुटियाँ इसमें भी हैं। शुक्लजी के इतिहास में भी वृत्तसंग्रह की परम्परा समाप्त नहीं होती। दूसरे, साहित्य को मानव-समाज के सामूहिक चित्त की अभिव्यक्ति के रूप में न देखकर केवल शिक्षित समझी जाने वाली जनता की प्रवृत्तियों के परिवर्तन-विवर्तन के निर्देशक के रूप में इसमें देखा गया है[2]। फिर भी शुक्लजी का इतिहास अपनी विशेषता रखता है। उन्होंने कवियों के सामूहिक प्रभाव का ध्यान रखा और बहुत हद तक वैज्ञानिक ढंग से उनका वर्गीकरण किया। बड़ी बात यह है कि उन्होंने "लोक-संग्रह की कसौटी पर इतिहास के समाजोन्मुख और समाज-पराङ्मुख युगों में अन्तर बतलाया[3]।" सम्वत् १९८७ में श्यामसुन्दरदास ने 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नाम से अपना इतिहास-ग्रंथ प्रस्तुत किया। परन्तु इनमें वह सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि नहीं थी जो शुक्लजी की सफलता का कारण है। शुक्लजी के अनुकरण पर, तथा स्वतन्त्र प्रयास के फलस्वरूप भी, बाद में अनेक इतिहास-ग्रंथ लिखे गए। पटना-विश्वविद्यालय की रामदीन रीडरशिप व्याख्यानमाला के अन्तर्गत अयोध्या-सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और शुकदेव बिहारी मिश्र ने हिन्दी साहित्य का ऐतिहासिक विवेचन किया। हरिऔधजी की पुस्तक का शीर्षक है "हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास।" इसकी कुल पृष्ठसंख्या ७१९ है। मिश्रजी के व्याख्यान 'हिन्दी-साहित्य और इतिहास शीर्षक' से १९३४ ई० म पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। कुल पृष्ठ-सख्या ३३४ है। सूर्यकान्त शास्त्री का 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' सम्वत् १९८७ में ही प्रकाशित हुआ। एक वर्ष बाद डा० रामशंकर शक्ल 'रसाल' की पुस्तक 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' दृष्टिगत हुई। सम्वत् १९९१ में कृष्णशंकर शुक्ल ने 'आधुनिक हिंदी-साहित्य का इतिहास' प्रस्तुत किया और सम्वत् १९९४ में गुलाब राय का 'हिंदी-साहित्य

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १.

२ हिन्दी-साहित्य का आदिकाल—पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २.

३ आलोचना—इतिहास विशेषाङ्क, पृ० ११ (इतिहास का नया दृष्टि-कोण —नामवर सिंह)

का सुबोध इतिहास' निकला। रमाशंकर प्रसाद का 'हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, भी पहले ही सम्वत् १९८७ में छपा था। पर इन ग्रन्थों द्वारा साहित्येतिहास-लेखन की दिशा में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं उपस्थित हुआ।

इधर डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'हिन्दी-साहित्य' ने हिन्दी के साहित्यिक इतिहास-लेखन को एक नई दिशा प्रदान करने की चेष्टा की है। इसमें हिन्दी-साहित्य के प्रथम काल पर आजतक के अनुसन्धानों के आधार पर नई दृष्टि से विचार तो हुआ ही है, राहुलजी, मोतीलाल मैनारिया आदि द्वारा उपलब्ध सामग्रियों को तो ध्यान में रखा गया ही है, साथ ही साहित्येतिहास को केवल शिष्टवर्ग की चिन्ताधाराओं के विकास के रूप में ही नहीं देखा गया, वरन् मानव-संस्कृति की अखण्ड परम्परा के विकास के रूप में देखने का प्रयास हुआ है। द्विवेदीजी ने साहित्य को वर्ग-विशिष्ट की चेतना के रूप में नहीं, सम्पूर्ण समाज अथवा लोकजीवन की सांस्कृतिक चेतना के रूप में देखा है। इस प्रकार द्विवेदीजी का यह इहिास-ग्रंथ हिन्दी के साहित्येतिहास के क्षेत्र में अगला कदम है। द्विवेदीजी के विशिष्ट दृष्टिकोण का परिचय यों बहुत पहले 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में मिल चुका था। उसी दृष्टिकोण का सम्यक् विकास हम इस नवीन ग्रंथ में देखते हैं।

'फिर भी, हिन्दी में साहित्यिक इतिहास लिखने की समस्या सर्वथा हल नहीं हो गई है। अभी बहुत मैदान तै करना है। शुक्लजी के इतिहास में जो त्रुटियाँ रह गई थीं उनमें कुछ का ही परिहार द्विवेदीजी के ग्रन्थ द्वारा हुआ है। आइये, इस विषय पर हम थोड़ा विचार कर लें कि शुक्लजी के इतिहास में क्या त्रुटियाँ थीं, द्विवेदीजी ने उनमें से किन-किन का परिमार्जन किया तथा हिन्दी के साहित्येतिहास को अभी कैसा बनना है।

सबसे पहले काल-विभाजन के प्रश्न को लीजिए। शुक्लजी ने चार कालों में साहित्यिक इतिहास को बिभाजित किया है—वीर-गाथा-काल, भक्तिकाल, रीति-काल, आधुनिक-काल। मिश्र-बन्धुओं ने भी लगभग इसी तरह का विभाजन किया था; सिर्फ कालों का नामकरण नहीं हुआ था। शुक्लजी ने काल की प्रवृत्ति के अनुसार उनका नामकरण किया। हजारीप्रसादजी ने भी इस परिपाटी के अनुसार ही युग-विभाजन और नामकरण किया। लेकिन, वीर-गाथा-काल के बदले उन्हें आदि-काल नाम अधिक युक्तिसंगत जान पड़ा। कारण, शुक्लजी के बाद जो अनुसन्धान कार्य हुए हैं, उनके अनुसार जिन रासो ग्रन्थों के आधार पर शुक्लजी ने इस काल को वीर-गाथा-काल कहा था उनमें से

अधिकांश ग्रंथ अप्रामाणिक और शेष अर्द्ध-प्रामाणिक सिद्ध हुए हैं। खुमान रासो, बीसलदेव रासो आदि परवर्त्ती प्रयास सिद्ध हुए हैं और पृथ्वीराज रासो और आल्हखंड (परमाल रासो) अर्द्ध-प्रामाणिक। इसके अतिरिक्त अनेक नवीन ग्रंथों का पता चला है जिनमें से कुछ तो सिद्धों (वज्रयानियों) के सांप्रदायिक विचारों से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ सन्देश रासक जैसे विशुद्ध शृङ्गार-ग्रन्थ हैं। कुल मिलाकर अब इस काल को वीरगाथा काल नहीं कहा जा सकता। राहुलजी ने इसे सिद्ध-सामन्त-काल कहना पसन्द किया है; द्विवेदीजी ने इसे आदि-काल की संज्ञा दी है। नामकरण तो फिर से किया गया पर ढाँचा वही काल-विभाजनवाला रहा। काल-विभाजन का आधार जरूर बदल गया। शुक्लजी ने युग की प्रधान साहित्यिक प्रवृत्ति के आधार पर काल-विभाजन किया था। राहुलजी ने काल के नामकरण के लिए उस काल की सामाजिक प्रेरक शक्तियों का आधार ग्रहण किया। सिद्धों और सामान्तों की सम्मिलित प्रेरणा साहित्य-सृष्टि के मूल में होने के कारण हिन्दी के प्रथम युग को उन्होंने सिद्ध-सामन्त-काल कहना पसन्द किया। द्विवेदीजी ने लिखा है कि भाषा की प्रवृत्ति को आधार माना जाय तो इसका नामकरण अपभ्रंश काल करना होगा; क्योंकि १४वीं शताब्दी तक की भाषा में अपभ्रंश शब्द-रूपों का प्राधान्य रहा। बाद में संस्कृत तत्सम रूपों की भरमार हुई। हिन्दी के कुछ इतिहासकारों ने विभिन्न कालों के अन्य नाम भी दिए हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा ने वीर-गाथा-काल को चारण-काल कहा। इसमें रचनाओं की प्रवृत्ति नहीं, कवियों की मनोवृत्ति को आधार माना गया। रीति-काल को किसी ने शृङ्गार-काल भी कहा है। इसमें प्रधान रस को आधार माना गया। आधुनिक काल को कई युगों में विभाजित किया गया—भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग, छायावाद-युग, प्रगतिवाद युग आदि। प्रथम दो युगों का नाम युग के प्रभावशाली साहित्यिक व्यक्तियों के आधार पर रखा गया है। बाद के युगों के नाम प्रवृत्तिपरक हैं। कालों का नामकरण राजनीतिक व्यक्तित्वों के आधार पर भी हो सकता है। अँग्रेजी में इसके उदाहरण मिलते हैं, जैसे—(Elizabethan Age) इलिजाबेथ-युग, (Victorian Age) विक्टोरिया-युग इत्यादि। काव्य-रूपों के आधार पर भी नामकरण होता है। जैसे—आधुनिक काल को गद्य-काल इसलिए कहा गया है कि अन्य युगों की अपेक्षा इसमें गद्य का अधिक बोलबाला रहा। कालों के नामकरण के चाहे जो आधार ग्रहण किए जायँ लेकिन कम-से-कम इतना तो होना ही चाहिए कि इतिहास ग्रन्थ में आरंभ से अन्त तक उस आधार को ही

अपनाया गया हो। रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास में हम इस नियम का अपवाद देखते हैं। वीर-गाथा-काल, भक्तिकाल और रीतिकाल तो प्रवृत्तिगत नामकरण हैं किन्तु आधुनिक काल समय-निर्देश-मूलक। द्विवेदीजी के इतिहास में भी इस त्रुटि का परिहार नहीं हुआ। उन्होंने यों नामकरण की विशेष चिन्ता नहीं की है, लेकिन वीरगाथा-काल को आदिकाल कहने के विशेष कारण उन्होंने अपनी दूसरी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में दिए हैं। 'हिन्दी साहित्य' नामक पुस्तक में काल-विभाजन तो है, लेकिन स्थूल नामकरण की चेष्टा उतनी नहीं दीखती। भक्ति-काल में कई शीर्षक दिए गए हैं—भक्ति साहित्य का अविर्भाव, निर्गुण भक्ति का साहित्य, कृष्ण-भक्ति का साहित्य, सगुणमार्गी राम-भक्ति का साहित्य और प्रेम-कथानकों का साहित्य। रीतिकाल का शीर्षक दिया गया है—रीति काल। परन्तु आधुनिक काल का नामकरण प्रवृत्तिगत न होकर समय-निर्देश-मूलक है। स्पष्टतया नामकरण का कोई एक आधार नहीं अपनाया गया है।

हिन्दी-साहित्य का आरम्भ कब से मानना चाहिए और क्यों? और हिन्दी के साहित्येतिहास में कब से लिखा गया साहित्य विवेच्य है, इस प्रश्न पर हजारी प्रसाद जी ने विचार किया है। वे वास्तविक हिन्दी-साहित्य का आरम्भ तो १४वीं शताब्दी से ही मानते हैं[१]। फिर भी १०वीं शताब्दी से १३वीं शताब्दी तक के साहित्य को भी हिन्दी के साहित्यिक इतिहास में विवेच्य मानते हैं। शुक्लजी के इतिहास से इस समस्या का समाधान इतने स्पष्ट रूप से नहीं मिलता था। द्विवेदीजी ने थोड़े विस्तार के साथ हिन्दी साहित्य के आरम्भ-काल पर विचार किया है। यह हमारे लिए हर्ष की बात है, पर उन्होंने काल-विभाजन का ढाँचा वही रखा। क्या काल-विभाजन करना साहित्य के इतिहास लिखने के लिए आवश्यक है? वस्तुतः कोई एक प्रवृत्ति, परिपाटी या प्रेरणा किसी काल-विशेष की सीमाओं में ही जन्म लेकर उसी काल में समाप्त नहीं हो जाती—उसकी परम्परा कभी व्यक्त और कभी अव्यक्त रूप से दीर्घ काल तक चलती रहती है। उदाहरण के लिए आज हम कह सकते हैं कि न तो वीरगाथा काल समाप्त हुआ है, न भक्तिकाल, और न रीतिकाल। आधुनिक काल में हम इन सब प्रवृत्तियों को एक-साथ पाते हैं। दिनकर का 'हुँकार', मैथिलीशरण का 'साकेत' और हरिऔध का 'रसकलश'

---

१ हिन्दी-साहित्य, पृ० ८७

इस कथन के प्रमाण हैं। अतएव, किसी प्रवृत्ति या चिन्ताधारा को अपने सही रूप में पहचानने के लिए क्या यह अच्छा नहीं होगा कि उसकी राजनीतिक, सामाजिक, दार्शनिक पीठिका के साथ उसके ऐतिहासिक विकास के क्रम का अध्ययन आरम्भ से अब तक एक साथ ही किया जाय? प्रवृत्तियों के अनुसार इतिहास के अध्यायों का विभाजन इसके लिए आवश्यक है। सिद्ध साहित्य, नाथ पंथ, सन्त साहित्य और आधुनिक युग के रहस्यवाद को एक साथ एक परम्परा-सूत्र में देखने का प्रयास हमें करना चाहिए। उसी तरह ब्राह्मण कर्म-काण्ड, वेदान्त का ज्ञानकाण्ड, शांकर अद्वैतवाद, वैष्णव मतवाद, भक्ति का विकास, हिन्दी के सगुण भक्ति काव्य (राम और कृष्ण काव्य) तथा आधुनिक काल में गुप्त, हरिऔध आदि की कुछ विशिष्ट कृतियाँ एक परम्परा में देखी जा सकती हैं। संस्कृत का लौकिक काव्य, सन्देशरासक जैसी अपभ्रंश कृतियाँ, भक्तिकाल की शृंगारिक रचनाएँ, रीतिकाव्य, रत्नाकर जैसे ब्रजभाषा के आधुनिक कवि तथा छायावाद, स्वच्छन्दतावाद आदि आधुनिक प्रवृत्तियाँ एक साथ देखी जा सकती हैं। वीरगाथा काव्य, तुलसी आदि भक्त कवियों की वीर रसमयी रचनाएँ, रीतिकाल के भूषण और आधुनिक काल में भारतेन्दु से लेकर अब तक की राष्ट्रीय और प्रगतिवादी रचनाएँ एक धरातल पर रखकर देखी जा सकती हैं। इसी प्रकार अमीर खुसरो से लेकर अब तक का मनोरंजक साहित्य एक कोटि में अन्तर्भुक्त हो सकता है। अच्छा हो यदि इन साहित्यिक धाराओं एवं प्रवृत्तियों को काल की अखण्डता में देखने का प्रयास हम करें। विभिन्न काल-खण्डों की सीमाओं में बँधकर ये अपना मर्म खो देंगी।

यह तो हुई इतिहास-लेखन की काल संबंधी समस्या जिसका समाधान इतिहास की प्रवृत्तिगत प्रणाली अपनाने से संभव है। अब देशगत समस्या पर विचार करें। हिन्दी से हम क्या समझते हैं? किस प्रदेश या किन प्रदेशों की बोलियों को हम हिन्दी के अन्तर्गत लेंगे? आज जिन क्षेत्रों की साहित्यिक भाषा खड़ी बोली है — जैसे उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, राजस्थान, दिल्ली मध्य भारत और पंजाब के कुछ अंश — उन क्षेत्रों को हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र हम सामान्य रूप से कहते हैं और वहाँ की सभी बोलियों को हम हिन्दी की बोलियाँ कहते हैं।

हजारी प्रसादजी के शब्दों में—"लगभग एक सहस्र वर्षों से इस मध्यदेश मे साहित्यिक प्रयत्नों के लिए एक प्रकार की केन्द्रीय भाषा का व्यवहार होता रहा है……हिन्दी शब्द का व्यवहार इसी केन्द्रोन्मुख भाषा के अर्थ में होता

है। जिन क्षेत्रों के लोग अपने साहित्यिक प्रयत्नों में केन्द्रोन्मुखी भाषा का प्रयोग करते हैं वे ही आज हिन्दी भाषी कहे जाते हैं[1]।" हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस समस्त क्षेत्र या इन क्षेत्रों की न केवल केन्द्रोन्मुखी भाषा के लिखित साहित्य का ही विवेचन होना चाहिए, वरन् विभिन्न लोकभाषाओं अथवा जनता के बीच प्रचलित बोलियों के लिखित अथवा मौखिक परम्परा से प्राप्त साहित्य की छान-बीन और मूल्यांकन भी होना चाहिए। अब तक के इतिहास में इस कार्य को अत्यन्त अवैज्ञानिक और विश्रृंखल ढंग से किया गया है। राजस्थानी एक लोकभाषा है जिसकी कई बोलियाँ हैं तथा कोई एक केन्द्रीय बोली भी है जो राजस्थानी के साहित्यिक प्रयत्नों के लिए प्रयुक्त होती रही है। अब यदि राजस्थानी को हिन्दी के अन्तर्गत मानते हैं तो न केवल पृथ्वीराजरासो, परमालरासो, वीसलदेवरासो, खुमानरासो आदि ग्रंथों पर ही इतिहास के अन्तर्गत विचार होना चाहिए, वरन् राजस्थान की आधुनिक साहित्यिक रचनाएँ भी, चाहे वे परिनिष्टित साहित्य के अन्तर्गत रखी जाने योग्य हों चाहे लोक-साहित्य के, इतिहास-ग्रन्थ में विवेच्य मानी जानी चाहिएँ। उसी तरह केवल ब्रजभाषा, अवधी की साहित्यिक परम्पराओं का ही नहीं, आज तक के मैथिली, भोजपुरी, मगही, बघेली, छत्तीसगढ़ी, बुन्देलखण्डी आदि के लोक-साहित्य और परिनिष्ठित साहित्य को इतिहास ग्रंथ में विवेच्य माना जाना चाहिए। अब तक इतिहास को केवल शिष्ट मण्डली अथवा अभिजात वर्ग की सांस्कृतिक चेतना का ही दिग्दर्शक माना जाता रहा है; अब समस्त लोक-चेतना को प्रतिबिम्बित करने के उद्देश्य से इतिहास का द्वार सभी प्रकार की और हिन्दी क्षेत्र की सभी बोलियों की रचनाओं के लिए खोल देने की आवश्यकता है।

साहित्येतिहास में लोक-साहित्य के विवेचन का क्या महत्व है और हिन्दी में लोक-साहित्य के अध्ययन, मूल्यांकन के प्रयत्न किन अंशों में हुए हैं इस विषय पर अगले प्रबन्ध में विचार किया गया है। इस स्थल पर इतना कह देना पर्याप्त समझता हूँ कि बिना लोक-साहित्य को अपनी परिधि में लिए कोई भी साहित्यिक इतिहास समाज की सांस्कृतिक चेतना का सम्यक् प्रतिनिधित्व करने का दावा नहीं कर सकता। और, अब तक के इतिहास-ग्रन्थों में इस दृष्टि से भारी कमी रह गई है। लोक-साहित्य के सम्बन्ध में अब बहुत कुछ सामग्री इकट्ठी हो चुकी है और साहित्यिक इतिहास में उसका हम उचित उपयोग कर सकते हैं।

———

१ हिन्दी साहित्य—पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २

हिंदी के साहित्येतिहास में लोकसाहित्य का विवेचन

यद्यपि शुक्लजी का इतिहास सुश्रृखल और आज भी अत्यत उपयोगी है, तथापि उनके बाद इधर कुछ वर्षो मे हमारे इतिहास-लेखन का दृष्टिकोण बहुत अधिक बदल गया है। इस विकासोन्मुख परिवर्त्तन का बहुत बडा श्रेय प० हजारी प्रसाद द्विवेदी के सत्प्रयत्नो को मिलना चाहिए।

मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्य का इतिहास सामाजिक-राजनीतिक इतिहास से कही ज्यादा महत्त्वपूर्ण है ; क्योकि उसमे बाहरी हलचलो, युद्धो. राज्य-परिवर्त्तनो और वंशावलियो का ही विवरण नही होता, वरन् मानवजाति की सास्कृतिक चेतना की विकासशील धारा का काल-क्रम से अध्ययन-मूल्याकन होता है। समाजनीति-राजनीति का सबध अधिकतर बहिर्मुख सामूहिक आचरण से है, साहित्य मानव-अतराल की उस प्राणमयी प्रेरणा की तस्वीर है जो व्यक्ति और समूह को सतत गतिशील रखती है। अतएव साहित्य का इतिहास जनसमूह के सांस्कृतिक विकास के अध्ययन की पीठिका है।

लेकिन, हिदी साहित्य का इतिहास अबतक जिस रूप मे लिखा गया है उससे इस महत् उद्देश्य की सिद्धि नही होती। मेरा निवेदन यह है कि अबतक हिदी-साहित्य का इतिहास इस रूप मे लिखा ही नही गया है, जिससे हम हिदी-भाषी भूभाग की विकासशील सास्कृतिक चेतना की सम्यक् रूप से थाह पा

सकें। कारण, हमने विराट् जनसमूह के विभिन्न संस्कारों, मनोवृत्तियों, सुख-दुःखों, आशा-आकांक्षाओं के अक्षय भांडार लोक-साहित्य की ओर साहित्येतिहास के विवेचन के सिलसिले में उचित ध्यान नहीं दिया है। हिंदी साहित्य के प्रथम सफल इतिहासकार पं० रामचन्द्र शुक्ल कहे जाते हैं। किंतु शुक्लजी ने भी शिष्ट साहित्य और लोक-साहित्य के अन्तर को ध्यान में रखकर इतिहास ग्रंथ में दोनों का अलग-अलग विवेचन नहीं किया है। जिन रचनाओं और धाराओं को उन्होंने विवेच्य माना है उनमें से कई लोक-साहित्य की ही संपत्ति हैं।

'लोक' शब्द को आज अँगरेजी Folk के पर्यायवाची के रूप में ग्रहण किया जा रहा है। इस अर्थ में लोक-साहित्य नागरिक परिवेश से भिन्न ग्रामीण संस्कृति और वातावरण के उपादानों से आकार ग्रहण करता है। नागरिक जीवन के परिनिष्ठित व्यवहार, परिमार्जित वाणी, कृत्रिम शील और रूढ़ि-सिद्ध भावाचार के बदले लोक-साहित्य में जनजीवन का निसर्गसिद्ध उद्दाम वेग और सहज वैचित्र्य को स्थान मिलता है।

शिष्ट साहित्य और लोक-साहित्य का अन्तर कई बातों पर निर्भर है। परिनिष्ठित या शिष्ट साहित्य वर्ग-विशेष का साहित्य है। शिक्षितवर्ग और उसका सांस्कृतिक मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति उसमें प्रधान है। अक्सर वह कम या अधिक अंशों में शास्त्र का सहारा लेकर चलता है। काव्यशास्त्र, छंद शास्त्र और व्याकरण ही नहीं; वरन् दर्शन, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र भी उसके आधार बन सकते हैं। शिक्षितवर्ग, अभिजातवर्ग छोटा है। विराट् जनसमूह के मन-प्राणों के उल्लास-आह्लाद, करुणा-कौतूहल, अनुभव-विचार लोक-गीतों, लोककथाओं आदि के रूप में नैसर्गिक अभिव्यक्ति पाते हैं। शिक्षितवर्ग का साहित्य परंपरा से प्रभावित और समय से प्राचीनता लिए होता है। लोक-साहित्य में युग की जीवंत नवीनता मुखरित होती है।

भाषा की दृष्टि से अंतर यह है कि शिष्ट-साहित्य की भाषा परिनिष्ठित (Standard) या केंद्रीय रूप में होती है, जबकि लोकसाहित्य की भाषा में स्थानगत विविधता होती है। केंद्रीय परिनिष्ठित भाषा व्याकरण-बद्ध हो स्थिर हो जाती है, जबकि लोकभाषा की गतिशीलता उसमें सदैव नवीन प्राणों का संचार करती रहती है।

शिष्टसाहित्य से लोक-साहित्य का स्थूल अंतर लोक-साहित्य के मौखिक होने में है। लोक-साहित्य इस यंत्रयुग के पूर्व तक प्रायः सर्वत्र मौखिक रूप से ही बहुत दिनों तक निर्मित, रक्षित और प्रचारित होता रहा होगा।

मेरी मान्यता है कि प्राचीन और मध्यकालीन हिंदी-साहित्य का बहुत बड़ा भाग लोक-साहित्य के रूप में प्रणीत हुआ और बहुत दिनों तक मौखिक रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी रक्षित होता रहा। लिपिबद्ध होने तक कई रचनाओं का स्वरूप कितना परिवर्तित हो गया होगा—इसका अंदाज लगाना सहज नहीं। अगणित रचनाएँ नष्ट हो गई होंगी या उनमें आमूल परिवर्त्तन हो गए होंगे।

डा० सत्येंद्र का तो विचार है कि 'हिंदी की समस्त पृष्ठभूमि लोकवार्ता और लोकतत्त्वों पर निर्मित हुई होगी। हिंदी भाषा लोकभाषा थी और इसमें साहित्य सृजन करनेवाले आरंभ में वे ही लोग थे जिनका या तो संस्कृत से सैद्धांतिक विरोध था, जैसे बौद्ध अथवा जैन या वे जिनका संस्कृत से संपर्क ही न था, अर्थात् अत्यन्त साधारणजन, जो अधपढ़े, कुपढ़ या बेपढ़े थे।'[1]

महापंडित राहुल सांकृत्यायन[2] प्रभति विद्वानों के सत्प्रयत्नों से अपभ्रंश में लिखा हुआ सिद्धों और नाथपंथियों का विपुल साहित्य उपलब्ध हुआ है। इस साहित्य का अधिकांश गेय और लोकगीतों के रूप में है। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने अपभ्रंश को 'पुरानी हिंदी' से अभिन्न माना था।[3] पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा 'वीर गाथाकाल' में अंतर्भुक्त 'बीसलदेवरासो' और 'आल्हखंड' भी लोकगीत कहे जा सकते हैं। 'बीसलदेवरासो' की प्रामाणिकता अब खंडित हो गई है, क्योंकि मोतीलाल मैनारिया ने उसके कवि नरपति नाल्ह को १६वीं शताब्दी के नरपति कवि से अभिन्न सिद्ध कर दिया है।[4]

मौखिक रूप में रक्षित होने के कारण 'आलहखंड' का जो रूप हमारे सामने है वह अपने मूल-रूप से नितांत भिन्न है। कलिंजर के चंदेलों के वंश में राजा परमर्दी या परमाल अंतिम प्रतापी राजा था जिसने, कहा जाता है, ११६५ से १२०३ ई० तक राज्य किया। इसके दरबार में वणाफर-कुल के प्रसिद्ध वीर आल्हा और ऊदल थे। ये वीर पृथ्वीराज से परमर्दी के युद्ध में काम आए किंतु इनकी अद्भुत वीरता और बलिदान की कथा जगनिक द्वारा गीतरूप में निबद्ध हुई। पर चंदेलों का राज्य ध्वस्त हो जाने के कारण राज्याश्रय के अभाव में यह

---

१ हिंदी-साहित्य के विकास-क्रम में लोकवार्ता की पृष्ठभूमि : आलोचना—अंक ४, पृ० २८

२ देखिए, 'हिंदी-काव्यधारा' (राहुल सांकृत्यायन)

३ 'पुरानी हिंदी' : नागरी-प्रचारिणी पत्रिका

४ देखिए : 'राजस्थानी भाषा और साहित्य'

वीरगीत, हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'आल्हा और ऊदल की स्मृति में लोककंठ में जीता रहा और बहुत दिनों तक अपने क्षेत्र में ही सीमित बना रहा। फिर कई सौ वर्षों के बाद अत्यंत परिवर्त्तित रूप में लिखवाया गया।'[१]

चौदहवीं शताब्दी तक के लोक-साहित्य और उसकी भाषा के स्वरूप के पर्याप्त उदाहरण आज उपलब्ध नहीं। लोकचित्त की चंचलता और लोक-भाषा की गतिशीलता के कारण विभिन्न जनपदीय भाषाओं के लोकगीत, कथाएँ और मुहावरे जो बाद में संकलित किए गए, अपने मूलरूप में आज हमारे सामने नहीं। जिस समय राजस्थान, अजमेर, बुन्देलखंड गुजरात, मालवा और बंगाल में तत्कालीन देशी राज्यों के संरक्षण में चारण आदि अभिजातवर्गीय राजपुरुषों के जीवन को साहित्य में चित्रित करने में लगे थे उस समय इन्हीं स्थानों की सामान्य जनता के वैयक्तिक सुख-दुःख, आशा-निराशा भी लोकगीतों के रूप में स्वतः मुखरित होती रही होंगी। हिंदी-भाषी क्षेत्र अथवा मध्यदेश में भी विविध लोकभाषाओं के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। मैथिली में विद्यापति और खड़ी बोली में अमीर खुसरो की रचनाएँ यह संकेत करती हैं कि इन कृतियों के अलावा इन जनभाषाओं में लोक-साहित्य भी निर्मित हुआ होगा जो लिपिबद्ध न होने के कारण या तो नष्ट हो गया या लोकचित्त की चंचलता के कारण अत्यन्त परिवर्तित रूप में हमारे सामने है। इसी प्रकार मगही, भोजपुरी, अवधी, ब्रजभाषा, छत्तीसगढ़ी आदि में भी लोक-साहित्य का निर्माण हुआ होगा। आज इनके तद्युगीन स्वरूप की थाह पाना महा कठिन हो गया है। फिर भी भाषाशास्त्र के सिद्धान्तों तथा तद्युगीन काव्य-रूपों के साथ तुलनात्मक अध्ययन द्वारा इस दिशा में प्रयत्न कुछ अंशों में लाभप्रद हो सकता है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखक को इस विषय पर विचार करना चाहिए। इस युग की उपलब्ध लिखित रचनाओं से भी सहायता मिल सकती है। मध्यदेश या वर्तमान हिंदी-भाषी क्षेत्र में १४ वीं शती के पूर्व लिखित साहित्य नहीं के बराबर मिलता है। यह और भी कठिनाई है। मध्यदेश पर प्रायः २०० वर्षों तक शासन करनेवाले गाहड़वार राजाओं की—जो इस भाग में बाहर से आए थे और इसलिए देशभाषा के साहित्य के प्रति सहानुभूति नहीं रखते थे—उदासीनता के कारण यहाँ देश-भाषा का साहित्य सुरक्षित नहीं रहा। पर इस क्षेत्र के बाहर की रचनाएँ मिलती हैं।

१ हिन्दी-साहित्य का आदि-काल : पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी

मुलतान के कवि अद्दहमाण या अब्दुलरहमान का 'संदेशरासक' महत्वपूर्ण है[1]। ऐसी और भी रचनाएँ इर्दगिर्द के प्रान्तों में लिखी उपलब्ध हुई हैं। इनके साथ वर्त्तमान लोकगीतों-कथाओं को मिलाकर देखने से शायद कुछ उपयोगी तथ्य निकल आए।

१४वीं शताब्दी के बाद का काल जिसे शुक्लजी ने 'भक्तिकाल' की संज्ञा दी है, लोक-साहित्य की दृष्टि से अधिक प्रकाशपूर्ण है। जहाँ एक ओर सूर-तुलसी-जैसे उच्चवर्गीय भक्त शास्त्र का पल्ला पकड़कर शिष्ट-साहित्य की रचना कर रहे हैं और ब्रज तथा अवधी-जैसी लोकभाषाओं के परिनिष्ठित एवं केन्द्रीय स्वरूप को आकार दे रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर निरगुनियां सन्तों की एक पूरी जमात लोकभाषा के अनगढ़, ठेठ और ग्राम्य स्वरूप के माध्यम से तत्कालीन जन-व्यापी धार्मिक आंदोलन से प्रेरित अपनी प्रतिक्रियाएँ और भावनाएँ व्यक्त कर रहे हैं। निर्गुण सन्तों का यह साहित्य भी अपने मूल-रूप में लोक-साहित्य का अंग है, क्योंकि उसका निर्माण शिक्षित नागरिकों द्वारा नहीं, वरन् समाज के निम्नस्तर के अशिक्षित ग्रामीण लोगों के द्वारा हुआ, और निम्नश्रेणी के अशिक्षित लोगों के बीच ही वह विशेष लोकप्रिय हुआ। निर्गुण-संत-साहित्य को जनव्यापी धार्मिक आंदोलन की उस सहज प्रतिक्रिया के विस्फोट के रूप में देखना चाहिए जो निम्नकोटि के शास्त्र-निरपेक्ष जन-समूह के चित्त पर हुई थी। विशेष धार्मिक-सांप्रदायिक दृष्टिकोण के कारण निर्गुण-साहित्य दैनंदिन लोकजीवन के सुख-दुःख के चित्रण से उदासीन-सा रहा, पर साम्प्रदायिक महत्त्व के कारण ही उसे शीघ्र ही लिपिबद्ध हो जाने का सौभाग्य भी मिल गया और वह बहुत-कुछ अपने मूलरूप में सुरक्षित रह सका। निर्गुण साहित्य का जो रूप हमारे सामने है उसका अशास्त्रीय अक्खड़पन, भाषा परिष्कार का अभाव, लोक-जीवन से लिए गए अप्रस्तुत प्रतीक और गेय-प्रवाह की मधुरता लोकगीतों से तुलनीय है। कुछ लोग स्त्रियों के बीच इस साहित्य की लोकप्रियता न देखकर इसे लोकसाहित्य मानने में हिचकते हैं; पर इसका कारण केवल इस साहित्य का आध्यात्मविषयक और निवृत्तिविषयक होना है। निर्गुण-साहित्य के साथ न्याय तभी सम्भव है जब इसे हम लोक-साहित्य के

---

१ सन्देशरासक—अब्दुल रहमान—प्रकाशक—भारतीय विद्याभवन, बम्बई ७। (सिंधी जैन ग्रन्थमाला)

रूप में देखने का और इसमें तद्युगीन वर्ग-निरपेक्ष, शास्त्र-निरपेक्ष मानव के हृदय-मंथन की थाह पाने का प्रयास करें।

जायसी-प्रभृति प्रेमाख्यानपरक कवियों का साहित्य यद्यपि लोक-साहित्य के रूप में रचित नहीं हुआ, तथापि उसमें उस युग की लोक-कथाओं के स्वरूप और लोक-साहित्य की कतिपय रूढ़ियों की रक्षा हुई है। जायसी आदि ने आध्यात्मिक सूफी सिद्धान्तों की व्यंजना के लिए प्रतीकरूप में जो कथाएँ लीं वे उस युग में प्रचलित लोक-कथाएँ ही तो थीं। इन लोक-कथाओं को काव्य-रूप में निबद्ध कर सूफी कवियों ने इन्हें अमर कर दिया। इन कथाओं में मध्य-युग के जन-समूह के विश्वास, संस्कार, रूढ़ियाँ, परंपराएँ, भावनाएँ आदि रक्षित हैं। यह साहित्य अवधी में है और तुलसी के मानस की अपेक्षा अपने युग के सामान्य लोक-हृदय का अधिक यथार्थ निदर्शक है।

तुलसी का साहित्य उस युग के नागरिक और ब्राह्मण-वर्ग की मनोवृत्ति का परिचायक है। वे भाषा में कविता करने को व्यापक प्रेषणीयता की दृष्टि से विवश तो हैं, पर उन्हें 'भाषा-भनिति' सदैव खटकती है! फिर भी लोकोक्तियों और लोक-प्रचलित मुहावरों की शक्ति से लाभ उठाने का लोभ वे कैसे रोक सकते थे?

ब्रजभाषा इस युग के काव्य की परिनिष्ठित भाषा बन गई और उसके साहित्य पर शास्त्रीय, परंपरा का नागरिक प्रभाव पूर्णरूप से दृष्टिगत हुआ। उसमें ग्रामीण अल्हड़पन उतना न रहा जितना साहित्यक रूप-परिमार्जन। रीतियुग में ब्रजभाषा का ही आधिपत्य रहा। लोक-साहित्य के प्रति रीतिकाल की सामान्य मनोवृत्ति का संकेत बिहारी को इस उक्ति में निहित है—

कर लै सूँघि सराहि कै सबै रहै गहि मौन।
गंधी गंध गुलाब कौ गँवई गाँहक कौन॥

अथवा

लेन यहाँ नागर बड़ी जिस आदर तो आब।
फूल्यौ अनफूल्यौ भयो गँवई गाँव गुलाब॥

ग्राम्य-जीवन और वातावरण के प्रति इस उपेक्षा-भावना के होते हुए भी, रीतिकाल में ब्रजभाषा और अन्य जनपदीय भाषाओं में लोक-साहित्य का निर्माण जारी अवश्य रहा होगा, लेकिन उसको लिपिबद्ध करने का प्रयास हम बहुत बाद में पाते हैं। अतएव ब्रजभाषा आदि का लोक-साहित्य आज बहुत-कुछ परिवर्त्तित रूप में ही सुरक्षित रह सका।

हिंदी के शिष्ट साहित्य पर लोक-साहित्य का कब, कितना, कैसा प्रभाव पड़ा, हिंदी-साहित्य लोक-साहित्य की नैसर्गिक भावधारा से, अभिव्यक्ति के स्वरूप-विधान से, भाषा के सशक्त-सजीव प्रयोगों से किस युग में किस प्रकार प्राणवान बना—यह विषय अध्ययन की दृष्टि से जितना आकर्षक और आवश्यक है, उतना ही विस्तृत भी। इस छोटे-से निबंध में अध्ययन की दिशा का संकेत भर कर देना मेरे लिए संभव हो रहा है। अधिकारी विद्वान ही इसपर विचार करें कि हिन्दी-साहित्य में प्रेमाख्यानपरक काव्य के विषय पर, ज्ञानाश्रयी सन्त कवियों के दृष्टिकोण पर और सूरदास, मीरा आदि कृष्णभक्त कवियों की गीति-शैली पर भक्तियुगीन लोकभाषा, लोक-साहित्य और लोक-संस्कृति का क्या आभार है। जयदेव, विद्यापति और सूरदास की गीत-परम्परा सम्भवतः शिष्ट-साहित्य को लोक-साहित्य की ही देन है। हिन्दी-साहित्य का इतिहास-लेखक लोक-साहित्य की पीठिका में शिष्ट-साहित्य को देखे बिना न तो शिष्ट-साहित्य के प्रति न्याय करेगा, न लोक-साहित्य के प्रति।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में, हम ध्यान से देखें तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि, जब-जब साहित्य शिष्ट कहे जानेवाले अभिजातवर्ग में सीमाबद्ध हो गया है तब-तब उसका प्रवाह पंकिल ही नहीं, अवरुद्ध भी हो गया है—उसका रस सूख गया है। साहित्य में फिर से प्राणों का रस भरने के लिए तब-तब सच्चा साहित्यकार गाँवों की ओर या विराट्-सामान्य जन-समूह की ओर मुड़ा है। रीतिकाल की विलास-भूमि से साहित्य को निकालनेवाले भारतेन्दु और साहित्य को सामाजिक महत्त्व और व्यावहारिक गति देनेवाले प्रेमचन्द क्या लोक-साहित्य और लोक-संस्कृति से कम प्रभावित हुए हैं? श्रीधर पाठक और रामनरेश त्रिपाठी की बात जाने दीजिए!

अतएव हिंदी-साहित्य के इतिहास में लोक-साहित्य का स्पष्ट, व्यवस्थित और विस्तृत विवेचन साहित्य के दोनों रूपों के अध्ययन की दृटि से महत्त्वपूर्ण है। इस ऐतिहासिक विवेचन के उपयुक्त, अब ऐसा नहीं कहा जा सकता कि, सामग्रियों का नितान्त अभाव है। लोक-साहित्य-सम्बन्धी इधर कुछ वर्षों में जो काम हुआ है, उसका संक्षेप में संकेत कर दूँ।

हिंदी के लोक-साहित्य की खोज और उसका संग्रह-सम्पादन-प्रकाशन का गुरुतर ओर महत्त्वपूर्ण काम आधुनिक काल में ही आरम्भ हुआ। यह प्रवृत्ति, हमें स्वीकार करना चाहिए, पाश्चात्य से आई।

भारतीय लोकवार्ता के संग्रह की परम्परा का आरम्भ १८१६ ई० में कर्नल जेम्स टॉड द्वारा 'एनल्स एण्ड एंटिक्विटीज़ ऑव राजस्थान' के रूप में माना जा सकता है। इसमें साहित्य की अपेक्षा इतिहास के तत्त्व अधिक हैं। लोक-दृष्टि से १८६२ ई० में प्रस्तुत सी० गोभर की 'फॉक सांग्स आव सदर्न इंडिया' सर्वप्रथम पुस्तक है।

हिंदी-जनपदीय भाषाओं के सम्बन्ध में प्रकाशित ग्रन्थों में सर्वप्रथम १८६६ ई० में लिखित हिस्लप का लेख उल्लेखनीय है जिसमें कुछ मूल लोक-कथाएँ भी अंतर्भुक्त हैं। बाद में डा० वेरियर एलविन ने 'फाक टेल्स आव महा-कोशल, फाक सांग्स आव छत्तीसगढ़, फाक सांग्स आव माइकल हिल, सांग्स आव दी फारेस्ट, मुरिया ऐंड देयर घोटूल, दी बैंगा, दी अंगरिया' आदि प्रस्तुत किये। शरच्चन्द्र राय ने १९१२ ई० में 'मुंडा एण्ड देयर कंट्री' की रचना की। क्रिश्चियन जोन द्वारा संगृहीत 'बिहार प्रोवर्ब' तथा 'आर्थर-ब्लू ग्रव' भी महत्त्व के हैं। हिंदी-लोक-साहित्य के अध्ययन के लिए इनके सिवा जरनल आव रायल एशियाटिक सोसायटी, इंडियन एंटिक्वेरी, नार्थ इंडिया नोट्स एण्ड क्वेरीज, बिहार-उड़ीसा (अब केवल बिहार) रिसर्च सोसायटी जरनल, आदि में प्रका-शित डैमेंट, कुक, जे० एच० नालीज, बोंग्स, वोर्डिना, ब्लूमफील्ड, शरच्चंद्र राय, पैंजर, ग्रियर्सन, हौपमैन, ब्राउन आदि के लेख तथा ग्रियर्सन के 'लिंग्विस्टिक सर्वे आव् इंडिया' की कुछ जिल्दें उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं।

हिंदी में लोक-साहित्य का प्रथम संग्रह १९१३ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें गोरखपुर जिले के कुछ गीत श्री मन्नन द्विवेदी ने प्रस्तुत किये। इसी समय के लगभग सन्तराम बी० ए० ने पंजाबी लोकगीतों का एक संग्रह प्रका-शित किया। फिर पं० रामनरेश त्रिपाठी ने बड़ी लगन से इस कार्य को अपनाया और 'कविता कौमुदी ५वाँ भाग', 'हमारा ग्राम-साहित्य' आदि पुस्तकें सामने आईं। रामनरेश त्रिपाठी के मन में इस कार्य के महत्त्व की भावना कैसे उदित हुई, इस सम्बन्ध में उन्होंने हिंदी-जनपदीय परिषद् की त्रैमासिक पत्रिका 'जनपद' के प्रथम अंक में एक मनोरंजक घटना का वर्णन किया है—

१९२४ ई० में मैं इलाहाबाद से जौनपुर रेल से जा रहा था। एक स्टेशन पर गाँव के कुछ गरीब लोग अपनी-अपनी स्त्रियों-सहित कलकत्ते जाने के लिए उसी डब्बे में आ बैठे, जिसमें मैं था। स्त्रियाँ गाने लगीं—

पुरुब से आइ रेलिया पाछिउँ से आइ जहजिया,
पिय के लादि लेइ गई हो।
रेलिया होइ गइ मोर सवतिया
पिय के लादि लेइ गई हो।
रेलिया न बैरी जहजिया न बैरी,
उहै पइसवा बैरी हो।
भुखिया न लागै पियसिया न लागै,
हमके मोहिया लागै हो।
तोहरा देखि कै सुरतिया,
हमके मोहिया लागै हो।
सेर भरि गेहुँआ बरिस दिन खइबइ,
पिय के जाइ न देबै हो।
रखबै अँखिया के हजूरवा,
पिय के जाइ न देबै हो।

इस गीत की मार्मिकता ने त्रिपाठीजी को गीत-संग्रह के लिए पागल बनाया था।

१९३० ई० से देवेंद्र सत्यार्थी ने गीतों के लिए भारत-व्यापी खोज आरम्भ कर दी। सन् १९४२ ई० के बाद लोक-साहित्य की खोज और संग्रह के काम ने वैज्ञानिक रूप ग्रहण करना आरम्भ किया। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी की भाषाओं के विकेंद्रीकरण की योजना, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की जनपद-कल्याणी योजना तथा राहुलजी और शिवदान सिंह चौहान के कतिपय लेखों से इस कार्य को प्रगति मिली। ब्रज, बुन्देलखण्ड, भोजपुर, राजस्थान, गढ़वाल, मालवा आदि जनपदों में परिषदों और मंडलों की स्थापना हुई और लोक-साहित्य की इतनी सामग्री इकट्ठी हो गई कि उन सबका प्रकाशन अभी नहीं हो पाया है। कुछ प्रकाशित संग्रह ये हैं—

भोजपुरी—१. भोजपुरी ग्रामगीत—कृष्णदेव उपाध्याय
२, भोजपुरी लोकगीतों में करुणरस—दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह
३, भोजपुरी ग्रामगीत—आर्चर

मैथिली—मैथिली लोकगीत—रामइकबाल सिंह 'राकेश'

छत्तीसगढ़ी लोकगीत—श्यामचरण दुबे

बुन्देलखंडी—इसुरी की फागें—कृष्णानन्द गुप्त

राजस्थानी—१. राजस्थान रा दूहा—नरोत्तम स्वामी

२. राजस्थान के लोकगीत—सूर्यकरण पारीक

३. राजस्थान के ग्रामगीत—नरोत्तम स्वामी

४. मालवी लोकगीत—श्याम परमार

इनके अतिरिक्त श्रीदेवेंद्र सत्यार्थी की 'धरती गाती है', 'धीरे बहो गंगा', 'बेला फूले आधी रात', 'बाजत आवे ढोल' आदि पुस्तकें भी हैं।

जनपदीय लोकोक्तियों के सम्बन्ध में ये पुस्तकें सामने आई हैं—

१. मेवाड़ की कहावतें—ल० ला० जोशी

२. मालवी कहावतें—र० ला० मेहता

३. राजस्थानी भीलों की कहावतें—मेनरिया

४. राजस्थानी कहावतें—क० ला० सहल

बिहार की राष्ट्रभाषा-परिषद् भी लोक-साहित्य के उन्नयन में गतिशील है। इधर श्रद्धेय डा० विश्वनाथप्रसादजी की देखरेख में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं।

इन समस्त कार्यों और सामग्रियों का साहित्येतिहास में लोक-साहित्य के विवेचन की पीठिका के रूप में उपयोग किया जा सकता है।

मध्यकालीन आर्य-भाषा परम्परा

भाषा जीवन को व्यक्त करने का एक साधन है, अतः किसी देश या जाति की भाषा का उस देश या जाति के सामाजिक जीवन से सीधा सम्बन्ध है। जीवन सतत प्रवहमान है, काल की गति के साथ वह विकसित-परिवर्त्तित होता है। फलस्वरूप भाषा की रूपरेखा भी स्थिर नहीं रहती। उसमें भी सतत परिवर्त्तन होता ही रहता है। भाषा की धारा भी विकास की ओर सदा अबाध गति से बहती रहती है।

साहित्य में प्रयुक्त होने पर व्याकरण के स्पर्श से यही गति-शील भाषा कठिन नियमों से आबद्ध होकर स्थिर हो जाती है। पर जातीय जीवन का प्रवाह नहीं रुक सकता। अतः उसे व्यक्त करनेवाली जनता की भाषा भी परिवर्त्तित होती ही रहती है। फल यह होता है कि उस समय भाषा के दो रूप हो जाते हैं, एक वह जो व्याकरण-बद्ध, परिष्कृत और साहित्य में एवं शिष्ट-मण्डली में प्रयुक्त होता है, और दूसरा वह जो व्याकरण-मुक्त, प्रवहमान और जनता के बीच प्रचलित होता है।

अपभ्रंश से हम लगभग ५०० ई० से १००० ई० तक बोली जाने वाली मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा-काल की जनता की एक ऐसी ही भाषा का रूप समझते हैं। साहित्य में प्रयुक्त होने पर प्राकृत की गति अवरुद्ध हो गई। उसके नियम कठिन हो गए। अतः जनता उस परिष्कृत भाषा को अपनाए नहीं रह सकी। जनता की बोलियों को किन्हीं भी नियमों द्वारा आबद्ध नहीं किया जा सकता था। "अतः लोगों की ये बोलियाँ विकास को प्राप्त होती गईं। व्याकरण के नियमों के अनुकूल मँजी और बँधी हुई साहित्यिक प्राकृतों के सन्मुख वैयाकरणों ने लोगों की इन नवीन बोलियों को 'अपभ्रंश' अर्थात्

'बिगड़ी हुई भाषा' नाम दिया। भाषा-तत्व-वेत्ताओं की दृष्टि में इसका वास्तविक अर्थ 'विकास को प्राप्त हुई' भाषाएँ होगा[1]।"

अपभ्रंश भाषाएँ मध्यकालीन आर्य-भाषाकाल की अन्तिम अवस्था की द्योतक हैं। इसके पश्चात् ही आधुनिक आर्य-भाषाओं का, जिनमें हिन्दी भी एक भाषा है, जन्म होता है। वर्तमान हिन्दी का, और अपभ्रंश का भी, सम्बन्ध प्राचीन भारतीय आर्य-भाषाओं से है। आधुनिक हिन्दी भी वैदिक भाषा में शताब्दियों के परिवर्तन का ही प्रतिफल है।

ऋग्वेद की ही भाषा को विदेशी भाषाओं के 'असंस्कृत' शब्दों के प्रभाव से बचाने के लिए लोगों ने उसे व्याकरण के कठिन नियमों से बाँध दिया और उसे 'संस्कृत' नाम दिया।

"पाणिनि (३०० ई० पू०) ने उसे ऐसा जकड़ा कि उसमें परिवर्तन होना बिलकुल रुक गया।······इस साहित्यिक भाषा के अतिरिक्त जनता की बोल-चाल की भाषा में परिवर्तन होता रहा।" वही परिवर्तित रूप पाली के नाम से प्रसिद्ध हुआ। (५०० ई० पू०—१ ई०पू०) उत्तर भारत की भाषा के इस समय कम-से-कम तीन रूप वर्तमान थे—पूर्वी, पश्चिमी तथा पश्चिमोत्तरी। पाली भी साहित्य में प्रयुक्त होने लगी। साहित्यिक पाली कदाचित् अर्द्धमागधी क्षेत्र की प्राचीन बोली के आधार पर बनी थी। इसके रूप हमें अशोक की धर्मलिपियों और बौद्ध और जैन धर्मग्रन्थों में मिलते हैं। पाली में भी साहित्यिक गाम्भीर्य आने पर और उसका रूप भी नियमों द्वारा आबद्ध होने पर जनता की बोली कुछ काल के अन्तर इससे भिन्न हो गई। फलतः हम प्राकृत के विभन्न रूपों को देखते हैं। "प्राकृत के इस विकास को तीन भागों में विभाजित किया गया है। प्राचीन (Primary), मध्य कालीन (Secondary) और उत्तर कालीन (Tertiary) प्राकृत उसके नाम हैं। (१ ई०) इसे साहित्यिक प्राकृत भी कहा गया है[2]।"

पाली मध्य-कालीन भारतीय आर्य-भाषा-काल की प्रथम अवस्था की भाषा थी। उस समय भी, जैसा कहा जा चुका है, जनता की बोलियों के तीन भेद वर्तमान थे। ये भेद मध्य-कालीन आर्यभाषा-काल की द्वितीय अवस्था की भाषा प्राकृत के सम्बन्ध में भी परिलक्षित हुए।

---

१ हिन्दी भाषा का इतिहास—डा० धीरेन्द्र वर्मा पृ० ४७

२ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, पृ०३६.

प्राकृत-काल में प्राकृत के चार भेद मुख्य थे—शौरसेनी (शूरसेन प्रदेश में बोली जानेवाली), मागधी (मगध अर्थात्, दक्षिण विहार में बोली जानेवाली), अर्द्धमागधी और महाराष्ट्री। शायद महाराष्ट्री इनमें मुख्य थी। यह बरार और उसके समीपवर्त्ती प्रदेशों में बोली जाती थी। नाटक में साधारणतया स्त्रियों और विदूषकों की भाषा शौरसेनी होती थी। कर्पूरमंजरी में स्वयं राजा भी इसका प्रयोग करता है। इन प्राकृतों के "अतिरिक्त वररुचि और हेमचन्द्र एक और प्राकृत का वर्णन करते हैं, जो पश्चिमोत्तर प्रदेश में बोली जाती थी। इसका नाम पैशाची है[1]।"

प्राकृत में जब साहित्य-सृजन का कार्य होने लगा तब स्वभावतः वह भाषा व्याकरण के कठिन नियमों में आबद्ध हो गई। अतः जनसाधारण की बोलियों में परिवर्त्तन के कारण प्राकृत के साहित्यिक रूप से अन्तर पड़ना आरम्भ हुआ। "वैयाकरणों ने अपने साहित्यिक प्राकृत की तुलना में इन्हें 'अपभ्रंश' का नाम दिया, जिसका अर्थ है 'भ्रष्ट हुई'। ईसा की तीसरी शताब्दी में अपभ्रंश आभीर आदि निम्न जातियों की भाषा का नाम था, जो सिंध और उत्तरी पंजाब में बोली जाती थी। ...बोलनेवाले अधिकतर विदेशी थे जो हूणों के समुदाय में थे। ......इन विदेशियों में आभीर नामक एक समुदाय था जिसने सिन्ध पर विजय प्राप्त की, बाद में गुजरात और राजपूताना भी इनके अधिकार में चला आया। सातवीं शताब्दी में उन लोगों का अधिकार पाँचाल तक हो गया। फलस्वरूप इन लोगों की भाषा, जो अपभ्रंश के नाम से प्रसिद्ध है, राजभाषा हुई और उसका प्रचार इनके विजित प्रदेश में ही नहीं, वरन् उसके बाहर भी स्थान-विशेष की भाषा के आधार पर होने लगा[2]।"

अपभ्रंश भाषा का काल लगभग ५००—१००० ई० तक माना जाना चाहिए। १००० ई० में वह अपने पूर्ण उत्कर्ष पर था। फिर भी, कुछ प्राकृत के उपासक इसे हीन दृष्टि से देखते ही थे। संभवतः प्राकृत के साहित्यिक कारागार से निकलने का प्रयत्न करने के कारण ही हीन-दृष्टि से देखते हुए प्राकृत के पण्डितों ने इसे 'अपभ्रंश' नाम दिया था।

इस काल में अपभ्रंश के कई भेद हुए। प्रत्येक प्राकृत के अनुसार अपभ्रंश का एक-एक भेद हुआ; जैसे शौरसेनी प्राकृत से शौरसेनी अपभ्रंश, महाराष्ट्री

---

१ हिं. सा. का आ. इ.—डा. रा. कु. व. पृ. ४०

२ हिं. सा. का आ. इ.—डा० रा. कु. वर्मा पृ. ४१

प्राकृत से महाराष्ट्री अपभ्रंश, अर्द्धमागधी प्राकृत से अर्द्धमागधी अपभ्रंश, और मागधी प्राकृत से मागधी अपभ्रंश। मार्कण्डेय अपने प्राकृत-सर्वस्व में अनेक अन्य अपभ्रंशों का निर्देश करते हैं। किसी अज्ञात लेखक के मतानुसार वे २७ अपभ्रंश बतलाते हैं। पर स्वयं उनके मत में केवल तीन अपभ्रंश हैं—'नागर, व्राचड़ और उपनागर। अन्य अपभ्रंशों में अत्यधिक सादृश्य होने के कारण वे उसे भिन्न भाषाएँ मानते ही नहीं।

"अपभ्रंशाः परे सूक्ष्मभेदत्वान्न पृथङ्मताः।"

२७ अपभ्रंशों का निर्देश करते हुए उन्होंने पाराड्य, कालिड्य, कारणार, कांचय, द्राविड़ आदि का भी उल्लेख किया है।

अपभ्रंशों में नागर अपभ्रंश का स्थान सर्वाधिक महत्त्व का है। यह गुजरात की भाषा थी। गुजरात के पण्डित नागर पण्डित कहे जाते थे। सुविख्यात जैन आचार्य्य हेमचन्द्र ने इसी नागर अपभ्रंश में अपने ग्रन्थ का प्रणयन किया। हेमचन्द्र की रचना संस्कृत से प्रभावित इसलिए है क्योंकि नागर अपभ्रंश का आधार शौरसेनी प्राकृत ही था, जिसका जन्म मध्य देश में होने के कारण वह संस्कृत के प्रभाव से वंचित नहीं रह सकती थी।

व्राचड़ सिंध में बोली जाती थी। उपनागर का क्षेत्र गुजरात और सिंध के बीच का प्रदेश अर्थात् राजस्थान और दक्षिण पंजाब था। अपभ्रंश के विषय में हमारी जानकारी का मुख्य आधार हेमचन्द्र है। उसने नागर का ही विशेषतया वर्णन किया है। कहा जाता है उस समय कोई 'केकय' अपभ्रंश भाषा भी थी।

डा० रामकुमार वर्मा कहते हैं : "जब प्राकृत साहित्य की शृङ्खला में मृत भाषा मानी जाने लगी तो अपभ्रंश में साहित्य-निर्माण होना आरम्भ हुआ। छठी शताब्दी में अपभ्रंश का स्वर्णकाल प्रारम्भ हुआ, जब उसमें उच्च साहित्य की रचना होनी प्रारम्भ हुई।......दसवीं शताब्दी के बाद अपभ्रंश को भी 'साहित्य-मरण' के लिए बाध्य होना पड़ा और उसने अनेक शाखाओं में विभाजित होकर नवीन नाम धारण किए। फलतः हिन्दी आदि भाषाओं का सूत्रपात हुआ[१]।"

हम देखते हैं कि हमारी भाषाएँ विकृतावस्था (inflectional) अथवा संयोगावस्था से विकसित होकर वियोगावस्था (analytic) में आई हैं। हिन्दी आदि अपभ्रंश से निकली हुई भाषाएँ वियोगावस्था की हैं।

---

१ हिं. सा. का आ० इ०—डा० रा. कु. वर्मा पृ. ४३

अपभ्रंश के विभिन्न रूपों से विभिन्न भाषाओं का जन्म हुआ, जो आजकल भारत के भिन्न-भिन्न भागों में बोली जाती हैं। इस प्रकार अपभ्रंश भाषाएँ आधुनिक भारतीय आर्यभाषा-काल की भाषाओं की जननी हैं; क्योंकि उन्हीं ने इनको जन्म दिया।

शौरसेनी अपभ्रंश से पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी और पहाड़ी भाषाओं, मागधी अपभ्रंश से बिहारी, बंगाली, आसामी और उड़िया व्राचड़ अपभ्रंश से सिन्धी, अर्द्धमागधी अपभ्रंश से पूर्वी हिन्दी, महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी और केकय अपभ्रंश से लहंदा का जन्म हुआ।

अपभ्रंश के 'जड़' हो जाने का समय ठीक-ठीक निर्धारित करना सम्भव नहीं। पर अनुमान है कि १००० ई० के बाद ही आधुनिक आर्यभाषाएँ अपभ्रंशों का स्थान लेने लगी होंगी। हिन्दी-साहित्य का आरम्भ भी उसके कुछ ही समय बाद से माना जाता है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ

पिछले प्रबन्ध में कहा जा चुका है कि १००० ई० के बाद ही आधुनिक आर्य-भाषाएँ अपभ्रंशों का स्थान लेने लगीं। यह परिवर्त्तन कतिपय भाषा-वैज्ञानिक कारणों से हुआ। किन्तु यह परिवर्त्तन अचानक नहीं हुआ होगा। शताब्दियों में धीरे-धीरे भाषा का स्वरूप (शब्दगत और रचनागत) बदलता गया होगा। आज तो यह भी निश्चय-पूर्वक कह सकना आसान नहीं कि अपभ्रंश की अन्तिम पुस्तक कौन-सी है और हिन्दी की प्रथम पुस्तक हम किसे मानेंगे। कुछ विद्वान् (जैसे महापंडित राहुल सांकृत्यायन) यह मानते हैं कि हिन्दी-साहित्य का सूत्रपात १०वीं शताब्दी के बाद नहीं, वरन् ८वीं शताब्दी में ही हो गया था और अपभ्रंश की अनेक पुस्तकें, जो सिद्ध और जैन-साहित्य के अन्तर्गत आती हैं, वस्तुत: हिन्दी की ही सम्पत्ति हैं। उन्होंने सरहपा (८वीं शती) को हिन्दी का प्रथम कवि माना है, क्योंकि वे अपभ्रंश भाषा को हिन्दी का प्राचीन रूप मानते हैं[1]।

किन्तु पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का विचार है कि भाषाशास्त्र की दृष्टि से हम अपभ्रंश के उपलब्ध रूप को, जिसके उदाहरण राहुलजी ने दिए हैं, हिन्दी का प्राचीन या पूर्ववर्ती रूप नहीं मान सकते; क्योंकि ये उदाहरण तो परिनिष्ठित अपभ्रंश के हैं, जिसका स्वरूप अपभ्रंशकालीन लोक-भाषा से अवश्य भिन्न रहा होगा। हिंदी आदि आधुनिक आर्य-भाषाओं का विकासतो लोक-प्रचलित अपभ्रंशों से हुआ होगा, अपभ्रंश के परिनिष्ठित, साहित्यिकरूप से नहीं। अतएव अपभ्रंश का उपलब्ध साहित्यिक रूप न तो लोकभाषा का परिचायक है, न हिन्दी के पूर्ववर्ती स्वरूप का[2]। अतएव, भाषाशास्त्र की दृष्टि से आधुनिक आर्य-भाषाएँ अपभ्रंश से स्वतन्त्र ही मानी जाएँगी।

---

१ हिन्दी-काव्यधारा—महापंडित राहुल सांकृत्यायन

२ हिन्दी-साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

प्राचीन आर्य-भाषाओं की परम्परा में जन्म लेकर भी आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाएँ उनसे बहुत भिन्न हो गई हैं। प्राचीन भाषाएँ संश्लेषणात्मक थीं। उनमें आज की हिन्दी आदि विश्लेषणात्मक भाषाओं की तरह विभक्तियों का प्रयोग शब्दों से पृथक् नहीं किया जाता था। संस्कृत 'रामस्य पुस्तकम्' के बदले हिन्दी में 'राम की पुस्तक' का प्रयोग करते हैं। संस्कृत में जो काम एक शब्द से चलता है उसके लिए हिन्दी या अंगरेजी जैसी विश्लेषणात्मक भाषाओं में कई शब्दों का प्रयोग करना होता है। जैसे—संस्कृत 'करोति' के बदले हिन्दी में 'वह कर रहा है' और अगरेजी में 'He is doing' कहेंगे। संस्कृत में एक शब्द 'जिगमिषति' से जो काम चल जाथगा उसके लिए हिन्दी या अंगरेजी में—'वह जाना चाहता है' या 'He desires to go'—इन चार-चार शब्दों का प्रयोग जरूरी होगा। शब्दों के साथ विभक्तियाँ मिली होने के कारण संस्कृत वाक्य में शब्दों को उलट-पुलटकर रखने से भी अर्थ में गड़बड़ी नहीं होती। आप 'पिता पुत्र ताडयति' कहें या 'पुत्रं पिता ताडयति' कहें, मार खानेवाला पुत्र ही होगा। हिन्दी में 'पिता पुत्र को मारता है' के बदले अगर आप यह कहें—'पुत्र पिता को मारता है' तो भारी अनर्थ हो जाएगा। वही हाल अंगरेजी का भी है। The father beats the son के बदले The son beats the father का प्रयोग खतरे से खाली नहीं ह। आधुनिक आर्य-भाषाओं में अपेक्षाकृत बंगाली—जैसी कुछ भाषाओं में विश्लेषणात्मकता कम है। उदाहरणतः 'राम का घर' के बदले बंगाली में 'रामेर बाड़ी' बोलते हैं; सम्बन्ध-कारक की विभक्ति शब्द के साथ ही मिली रहती है।

यह तो आधुनिक भाषाओं की रचना-सम्बन्धी विशेषता हुई। कालान्तर में शब्द-समूह में जो परिवर्त्तन हो जाता है वह और भी दिलचस्प है। जरा देखिए, संस्कृत के शब्द घिसते-घिसते प्राकृत में कैसे हो जाते हैं। संस्कृत 'यदि' का प्राकृत में 'जइ', 'आर्यपुत्र' का 'अज्जउत्त', 'प्रकाशयति' का 'पआसेइ', 'आगतम्' का 'आअदं', 'सकल' का 'सअल', 'स्थगयति' का 'थकेति', 'मृत्यु' का 'मच्चु', 'धर्म' का 'धम्म' तथा 'भैषज्य' का 'भेसज्ज' हो जाएगा और प्राकृत से आधुनिक भाषाओं तक पहुँचते-पहुँचते तो शब्द इतने बदल जाते हैं कि पहचान में नहीं आते। आप जानते हैं कि संस्कृत 'गृह' से हिन्दी 'घर', लवण से नोन, नृत्य से नाच, कर्म से काम, मौक्तिक से मोती, वृक्ष से रूख, मृत्तिका से मिट्टी, ज्येष्ठ से जेठ, श्रेष्ठिन् से सेठ, बिल्व से बेल, भ्रमर से भौंरा, अश्रु से आँसू, भ्रू से भौं, चैत्र से चैत, सपत्नी से सौत, निद्रा से

नींद, अग्नि से आग, ग्राम से गाँव और नकुल से नेवला शब्द की उत्पत्ति कालान्तर में घिसते-घिसते हुई है। पर क्या आप सहज ही पहचान लेंगे कि पंचत्रिंशत् पैंतीस का, कपर्दिका कौड़ी का, कर्पटिका कपड़ा का, अम्लिका इमली का, यज्ञोपवीत जनेऊ का, उपाध्याय ओझा का, गंत्री गाड़ी का, खट्वा खाट का, अक्षि आँख का, वल्गा बाग का, यष्टि लाठी का, ग्रन्थि गाँठ का, नप्तृ नाती का, वर्तिका बत्ती का, हरिद्रा हल्दी का, रौप्यक रूपया का, स्फोटक फोड़ा का, स्फटकारिका फिटकिरी का, भ्रातृजाया भौजाई का, शकटिका छकड़ा का, शल्कल छिलका का, द्यूत जुआ का, पर्ण पान का, दीप-शलाकिका दीयासलाई का, महार्घ महँगा का और शृंखला साँकल का संस्कृत रूप है? पुराने शब्दों का व्यवहार कभी-कभी भाषा से उठ जाता है और नए शब्द आ जाते हैं। वैदिक संस्कृत के कुछ शब्द, आधुनिक भाषाओं की तो बात ही क्या, लौकिक संस्कृत में भी नहीं मिलते—उदाहरण हैं, दर्शत, दृशीक, रपस्, अमूर, ऋदूदर, अमीवा। कुछ वैदिक शब्दों के अर्थ लौकिक भाषाओं में बदल गए। वैदिक भाषा में वध का अर्थ है—कोई भयंकर हथियार; लौकिक संस्कृत या हिन्दी में—मार डालना। वेदों में 'अरि' शब्द 'ईश्वर' या 'धार्मिक' के अर्थ में भी आया है; बाद में 'अरि' का अर्थ रह गया—शत्रु। गवेषणा का वैदिक अर्थ था—गाय ढूंढ़ने के लिए जाना। आज गवेषणा का अर्थ है—वैज्ञादिक खोज। विदेशी जातियों के सम्पर्क से भी आधुनिक भाषाओं में नए शब्द आए हैं। उदाहरणतः हिन्दी में तुर्की शब्दों के नमूने देखिए—

कैंची, काबू, कुली, गलीचा, चाकू, चिक, तोप, दरोगा,
बावर्ची, बहादुर, बीबी, बेगम, लाश, सौगात आदि।

हिन्दी में प्रयुक्त पुर्तगाली शब्दों के नमूने देखिए—

अनन्नास, इस्पात, कमीज, कमरा, काफी, काजू, गमला,
गिर्जा, गोभी, गोदाम, चाबी, तंबाकू, तौलिया, परात,
बाल्टी, मस्तूल, मिस्त्री, आदि।

कार्तूस, कूपन आदि दो एक फ्रांसीसी भाषा के शब्द भी मिलेंगे। लेकिन, अंगरेजी शब्दों की तो भरमार है। अपील, इंच, इंजीनियर, कम्पनी, जज, पार्सल, मशीन, मोटर, सर्जन, सूट, होस्टल आदि के प्रयोग तो हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं में अनिवार्य-से हो गए हैं।

तद्भव और विदेशी शब्दों के कारण जहाँ आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में नवीनता और परस्पर भेद का समावेश होता है, वहाँ संस्कृत के

तत्सम शब्दों के बढ़ते हुए प्रचार के कारण शब्द-भण्डार में स्थिरता तथा आधुनिक आर्य-भाषाओं में परस्पर एक-सूत्रता की रक्षा भी होती है। तत्सम की ओर लौटने की प्रवृत्ति इन भाषाओं में मध्यकालीन धार्मिक आन्दोलनों के प्रभावस्वरूप हुई। इन भाषाओं के परस्पर भेद के बीच अभेद की प्रतिष्ठा की दृष्टि से इनमें तत्सम शब्दों का प्रयोग श्रेयस्कर है।

आइए, पहले हम इनकी अलग-अलग विशेषताओं पर दृष्टि डालें।

महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी भाषा का जन्म हुआ। यह बम्बई प्रान्त में पूना के चारों ओर, बरार तथा मध्य प्रान्त के नागपुर आदि कुछ जिलों में बोली जाती है। इसमें तीन मुख्य बोलियाँ हैं। पूना के निकट की बोली साहित्यिक भाषा है। इसका साहित्य विस्तृत और प्राचीन है। मराठी प्रायः देवनागरी लिपि में लिखी और छापी जाती है। पर नित्य के व्यवहार में मोड़ी लिपि का उपयोग होता है।

गुजराती भाषा गुजरात, बड़ोदा, आदि में बोली जाती है। इसमें बोलियों का स्पष्ट भेद अधिक नहीं। इसका साहित्य विस्तृत तो नहीं, पर श्रेष्ठ अवश्य है। नरसिंह मेहता, इसके आदि कवि, का जन्म १४१३ ई० में कहा जाता है। १२वीं सदी के प्राकृत वैयाकरण हेमचन्द्र भी गुजराती ही थे। उन्होंने गुजराती की पूर्ववर्ती भाषा नागर अपभ्रंश का वर्णन किया है। पर शौरसेनी का भी इसपर प्रभाव है। इसकी लिपि पहले देवनागरी थी, अब कैथी से मिलती-जुलती एक अलग लिपि का प्रयोग होता है।

राजस्थानी को हिन्दी के अन्तर्गत मान सकते हैं, क्योंकि राजस्थान की साहित्यिक भाषा हिन्दी ही है। राजस्थानी की मुख्य चार बोलियाँ हैं—मेवाती, मालवी जयपुरी और मारवाड़ी। प्राचीन साहित्य प्रधान रूप से मारवाड़ी में है। नित्य के प्रयोग में महाजनी लिपि का उपयोग करते हैं, पर साहित्य और छापे के लिए देवनागरी का ही व्यवहार होता है।

पश्चिमी हिन्दी मनुस्मृति में वर्णित मध्यदेश की वर्त्तमान भाषा है, जो शौरसेनी अपभ्रंश की पुत्री है। इसकी बोलियाँ हैं—खड़ीबोली, ब्रजभाषा और बुन्देलखण्डी। खड़ी बोली आज की परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा है। ब्रजभाषा मध्यकाल में साहित्यिक भाषा रही। कृष्णकाव्य और रीतिकाव्य का माध्यम इस युग में ब्रजभाषा ही रही। बुन्देली में लोक-साहित्य अच्छा है। खड़ी बोली और फारसी के मेल से दिल्ली-मेरठ के बाजारों में एक नई भाषा बनी जो उर्दू कहलाई।

पूर्वी हिन्दी अर्द्धमागधी अपभ्रंश से निकली। इसकी बोलियाँ हैं—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। जैनधर्म के प्रवर्त्तक महावीर ने धर्म-प्रचार के लिए कभी अर्द्धमागधी का प्रयोग किया था। तुलसीदास का रामचरितमानस तथा जायसी आदि प्रेमाख्यानक कवियों की रचनाएँ अवधी में ही हैं। बघेली अवध के दक्षिणी क्षेत्र की बोली है, छत्तीसगढ़ी मध्य प्रदेश में स्थित छत्तीसगढ़ की।

मागधी अपभ्रंश से निकली हुई भाषाएँ हैं—बिहारी, ओड़िया, आसामी, और बंगाली।

बिहारी तीन बोलियों के समूह को कहा गया है—मैथिली, मगही, भोजपुरी। मैथली दरभंगा जिला और आसपास के स्थानों में बोली जाती है। मगही का क्षेत्र है—पटना, गया, हजारीबाग और मुंगेर का कुछ हिस्सा। भोजपुरी बनारस, गोरखपुर, शाहाबाद, सारन और चम्पारण में प्रयुक्त होती है। मैथिली और मगही एक दूसरे के अधिक निकट हैं। मैथली की लिपि अलग है, पर छपाई में देवनागरी का ही प्रयोग होता है। मगही आदि में नित्य-व्यवहार में कैथी लिपि भी चलती है। बिहार की साहित्यिक भाषा हिन्दी है, इस दृष्टि से बिहारी बोलियों को हिन्दी के अन्तर्गत माना जाता है।

ओड़िया उड़ीसा की भाषा है। इसकी लिपि अलग और पेचीदी है। इसका व्याकरण बंगाली से मिलता-जुलता है। राजनीतिक कारणों से ओड़िया में तेलगु और मराठी शब्द बहुत आ गए हैं।

बंगाली की कई बोलियाँ हैं। पश्चिमी बंगाली का प्रयोग साहित्यिक भाषा के रूप में होता है। इसका साहित्य खासा अच्छा है। इसकी लिपि देवनागरी का ही एक रूपान्तर है।

आसामी आसाम की भाषा है। इसकी विशेषता यह है कि अन्य भारतीय आर्य भाषाओं के विपरीत इसमें प्राचीन ऐतिहासिक ग्रंथों की कमी नहीं। इसकी लिपि बंगाली से मिलती जुलती है।

कुछ पहाड़ी भाषाएँ भी हैं जो विविध पहाड़ी प्रदेशों में बोली जाती हैं। इनपर विदेशी प्रभाव भी पड़ा है।

दक्षिण भारत में द्राविड़ भाषाएँ बोली जाती हैं जिनमें मुख्य हैं—तमिल, तेलगु, कन्नड़ और मलयालम। तमिल में साहित्य अच्छा है। कविता में इस भाषा ने स्वतन्त्र उन्नति की है। पर साहित्य के अन्य रूपों के विकास में संस्कृत का काफी गहरा प्रभाव पड़ा है। दक्षिण और उत्तर के सांस्कृतिक आदान-प्रदान के फलस्वरूप द्रविड़ भाषाओं ने संस्कृत को प्रभावित भी

किया है। काल्डवेल के अनुसार संस्कृत के ये शब्द मूल में द्रविड़ भाषाओं की देन हैं—

अक्का, अर्थात् माता
अटवी,
आलि,
नीर,
मीन,
पट्टन, अर्थात् शहर, और
पतली, अर्थात् एक छोटा ग्राम।

आधुनिक आर्य भाषाओं में तो देशज कहे जानेवाले बहुत से ऐसे शब्द मिलेंगे जिनका सम्बन्ध संस्कृत से नहीं जोड़ा जा सकता है। इनमें से कुछ अवश्य द्रविड़ भाषाओं के हैं।

आर्येतर भाषाओं में मुण्डा-भाषा परिवार की भाषाएँ भी हैं जो छोटा-नागपुर, मध्यप्रदेश आदि की सन्थाल आदि जातियों द्वारा बोली जाती हैं।

भारत में भाषा-भेद आज इतना गहरा हो गया है कि कुछ कोस जाने पर ही भाषा बदल जाती है। प्रत्येक जनपद की अपनी अलग बोली या भाषा है। समाज के जटिल और बहुमुखी सांस्कृतिक जीवन की परम्परा की सुरक्षा की दृष्टि से जहाँ एक ओर अनेक जनपदों की स्थानीय बोलियों का अलग-अलग विकास आवश्यक कहा जा सकता है, वहाँ दूसरी ओर देश की एकता, अन्त:प्रांतीय व्यवहार की सुगमता तथा राष्ट्रीय आत्म-सम्मान के हित में किसी ऐसी एक भाषा की अनिवार्यता अनुभूत होती है जो देश के एक छोर से दूसरे छोर तक बोली-समझी जाय। इस राष्ट्र-भाषा का स्वरूप कैसा हो जिसमें अधिक से अधिक प्रदेशों के जनसमूह की सुविधा का ध्यान रखा जा सके, इसका निश्चय आसान नहीं। हाँ, शब्द-भाण्डार में संस्कृत तत्सम शब्दों की प्रचुरता द्वारा प्रदेशों के बीच भाषा-भेद की खाई बहुत दूर तक पाटी जा सकती है, क्योंकि मूल संस्कृत के ये तत्सम शब्द लगभग सभी आधुनिक आर्य-भाषाओं को समान रूप से विरासत में मिले हैं। पारिभाषिक शब्दों की अन्त:प्रान्तीय एकता की दृष्टि से तो तत्सम शब्दों का सहारा लेना विशेष हितकर होगा।

लिपि समान रहने से एक भाषाभाषी दूसरी भाषा को अपेक्षाकृत अधिक सुगमता से सीख सकता है। वर्त्तमान आर्य-भाषाओं की विविध लिपियों में

प्रायः सभी देवनागरी या उसका रूपान्तर है। यदि स्थानीय रूपान्तरित लिपियों का मोह छोड़ कर इन सभी भाषाओं में परिनिष्ठित रूप से देवनागरी लिपि को ही अपना लिया जाय तो भाषागत ऐक्य और सामंजस्य की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण प्रयास होगा।

कुछ लोगों का विचार है कि वर्त्तमान देवनागरी लिपि हमारे राष्ट्रीय जीवन की आवश्यकताओं के वहन करने में असमर्थ है और लाइनो टाइप तथा टाइप-राइटर मशीन के लिए अनुपयुक्त होने के कारण आधुनिक कर्म-संकुल सामाजिक जीवन के लिए अपेक्षित द्रुतगामिता की दृष्टि से असुविधा-जनक है। किन्तु मेरा विचार है कि यदि मशीन और लिपि अथवा भाषा में सामंजस्य नहीं है तो मशीन को ऊपर उठकर लिपि या भाषा के समकक्ष आना चाहिए, न कि लिपि या भाषा को ही मशीन की अक्षमता के कारण नीचे उतर कर अपना रूप विकृत कर लेना चाहिए। बिहार में प्रो० कृपानाथ मिश्र के सत्प्रयत्नों से इस दिशा में श्लाघ्य प्रगति हुई है।

डिंगल साहित्य और पृथ्वीराज रासो

वीरों के आख्यान इतिहास के श्वासोच्छ्वास हैं। इनसे राष्ट्रीय अभ्युत्थान को प्रगति मिलती है, देश के पतित समाज को प्राप्त होते हैं अवलम्ब, आशा एवं मार्ग-निर्देश ! सभी दृष्टियों से इनका महत्त्व अपरिमेय है, ये किसी भी राष्ट्र के प्राण हैं, किसी भी भाषा की अमूल्य निधि और साहित्य के गौरव हैं।

अन्य जीवित साहित्यों की भाँति हिन्दी साहित्य का प्रथम काल भी वीर-रस-बहुल रहा है। अपभ्रंश अवस्था से सद्यःप्रसूत हिन्दी में वीरों की तलवारों की झनझनाहट भी थी, नूपुरों की झनकार भी। राजस्थान की राजनैतिक अशान्ति और विप्लव के वातावरण में वहाँ के चारण तथा भाटगण अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में वीर-रस-प्रधान काव्य की धारा बहाने लगे। राजस्थान की वह असंस्कृत भाषा 'डिंगल' कहलाई जिसमें वीर-रसात्मक काव्य-रचना के कारण परुषतत्त्व विशेष रूप से था और परिमार्जन एवं व्याकरण तथा छन्दःशास्त्र के अनुशासन का अभाव था। शायद उसे मध्यदेश की भाषा 'पिंगल' से, जिसमें अपेक्षाकृत व्याकरण और छन्दःशास्त्र का अधिक नियंत्रण था, उपहास के हेतु जोड़ा मिलाने के लिए 'डिंगल' कहा गया हो। कुछ लोगों का मत है कि ऊबड़-खाबड़ और असंस्कृत पदावली के कारण डमरू की ध्वनि से उस भाषा की समता ही उसके 'डिंगल' नामकरण का कारण है। जो हो, डिंगल ने हिन्दी की काव्यलता को वीर-रसामृत से सिंचित कर उसके उत्तरोत्तर विकास का मार्ग प्रशस्त किया।

डिंगल साहित्य में आज हम जिसे सर्वप्रधान ग्रंथ कहते हैं, वह है पृथ्वीराज रासो। उसका डिंगल-साहित्य में क्या स्थान है, उसका हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास में क्या मूल्य है, यह समझने के लिये प्रथम यह आवश्यक है कि हम डिंगल-साहित्य के अन्य उपलब्ध ग्रन्थों की ओर भी दृष्टि फेरें; द्वितीयतः यह कि डिंगल-साहित्य कहाँ तक प्रामाणिक और ऐतिहासिक है, इस पर विचार करें।

'पृथ्वीराज रासो' के रचयिता चन्द बरदाई के पूर्व के कवियों में सर्वप्रथम पुण्ड्र कहे जाते हैं, जिनका समय ७७० वि० माना गया है। पर इनके ग्रन्थ का निश्चय नहीं। उसके पश्चात् का एक ग्रन्थ 'खुमान रासो' मिलता है जिसमें चित्तौराधिपति रावल खुमान द्वितीय का वृत्तान्त है। इसके कवि दलपत विजय कहे जाते हैं। इसका आधार इतिहास है अवश्य, क्योंकि खुमान द्वितीय ऐतिहासिक व्यक्ति हैं[1]। पर, परवर्त्ती कवियों द्वारा इसका रूप इतना परिवर्त्तित हो गया है कि ८०० वर्षों के बाद आज यह अपनी असली हालत में नहीं है। बारहवीं सदी में, मसूद, कुतुबअली, साहदान आदि के नाम भी आते हैं। भुवाल कवि भी चन्द के पूर्व, १० वीं सदी में ही हुए। पर दलपत विजय के पश्चात् महत्त्व का कवि नरपति नाल्ह ही हुआ, क्योंकि मोहनलाल द्विज का काल भी संशयग्रस्त है। नरपति नाल्ह के पूर्व के सभी कविगण अनिश्चित हैं, क्योंकि न तो उनके समय का ही निश्चय है, न उनके रचित ग्रंथों की प्रामाणिकता का ही। इनका, 'बीसलदेव रासो' गीतात्मक है यद्यपि उसमें प्रबन्धात्मकता की छाया अवश्य है। गौ० ही० ओझा के अनुसार वीसलदेव का समय १०३० से १०५६ वि० माना गया है। ग्रन्थरचनाकाल के सम्बन्ध में मतभेद है। मिश्रबन्धु सं० १२२० और रा० च० शुक्ल सं० १२१२ बतलाते हैं। मोतीलाल मेनारिया का तो विचार है कि नरपति नाल्ह १६ वीं शती के नरपति कवि से अभिन्न हैं और वीसलदेव रासो एक बाद की रचना है[2]। ग्रन्थ का विस्तार दो सौ चरणों में है। इसमें चार खण्ड हैं। प्रथम में मालवा के अधिपति भोज परमार की लड़की से वीसलदेव का विवाह, द्वितीय में वीसलदेव की उड़ीसा-यात्रा, तृतीय में राजमती का वियोग-वर्णन और वीसलदेव का उड़ीसा से

---

१ दे० Todd's Annals of Rajasthan.

२ राजस्थानी भाषा और साहित्य—मोतीलाल मेनारिया पृ. ८५-८६

लौटना, चतुर्थ में भोजराज द्वारा राजमती का ले जाया जाना और वीसलदेव का पुनः इसे ले आना वर्णित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्रन्थ में वीर-रस के साथ-साथ शृङ्गार-रस की भी बहुलता है। वीर-रस के अंचल में छिपी शृङ्गारिकता वीर-काव्य के प्रथम उत्थान-काल की विशेषता है। वीसलदेव रासो में प्रबन्धात्मकता की छायामात्र है, प्रधानतः यह गीतिमय है। पूर्णरूप से प्रबन्धात्मक ग्रन्थ लिखने का प्रथम श्रेय चन्द वरदाई को है, जिसने पृथ्वीराज रासो में शृङ्खलाबद्ध रूप से पृथ्वीराज चौहान की कीर्त्ति-गाथा गाई। रासो में काव्य की अनेक रीतियाँ उसके रचयिता की विद्वत्ता की परिचायिका हैं। इसकी काया भी दस हजार से अधिक पृष्ठों की है। रासो की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हैं।

पर, ग्रन्थ स्वयं प्रामाणिक एवं ऐतिहासिक है अथवा नहीं इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है। तत्संबन्धी विभिन्न मतों के सम्यक् विवेचन के पूर्व हम यह देख लें कि यह ग्रन्थ, जिस रूप में हमें उपलब्ध है, कैसा है। इसकी कथा-वस्तु का सारांश यह है—

प्रथम यज्ञ द्वारा अग्नि से राजपूतों के चार वंशों की उत्पत्ति की कथा है। फिर लिखा है कि पृथ्वीराज अजमेर के सोमेश्वर के पुत्र थे। सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के तोमर राजा अनङ्गपाल की पुत्री कमला से हुआ था। राजा अनङ्गपाल की दो कन्याएँ थीं, कमला और सुन्दरी। सुन्दरी का विवाह विजयपाल से हुआ जिसका पुत्र जयचन्द हुआ। अनङ्गपाल ने पृथ्वीराज को गोद ले लिया; अतः अजमेर और दिल्ली का राज्य एक हो गया। इससे जयचन्द पृथ्वीराज से जलने लगा। उसने राजसूय यज्ञ किया जिसके साथ संयोगिता का स्वयंवर भी हुआ। सभी राजाओं के साथ पृथ्वीराज को भी आमंत्रित किया गया, पर वह न आया। चिढ़कर जयचन्द ने उसकी एक मूर्त्ति बनवा द्वारपाल के रूप में रखी। पर संयोगिता ने स्वयंवर में उसे ही जयमाला पहनाई। इससे जयचन्द क्रुद्ध हुआ और उसे गंगातट पर एक महल में भेज दिया। पृथ्वीराज यह सुनकर संयोगिता को हर ले गया। मार्ग में जयचन्द की सेनाओं से भीषण मारकाट हुई।

कुछ दिन भोग-विलास में बीते। पुनः शहाबुद्दीन की चढ़ाइयाँ हुईं और उसकी बार-बार पराजय हुई। अन्त में पृथ्वीराज पकड़ कर गजनी भेज दिये गए। चन्द भी गजनी गए जहाँ उनके इशारे पर पृथ्वीराज ने शहाबुद्दीन को शब्दवेधी वाण द्वारा मार डाला। फिर वे एक दूसरे को मार कर मर गए।

कथानक से भी यह सिद्ध होता है कि चन्द ने ग्रन्थ पूरा नहीं किया होगा। अन्तिम दस समयों की पूर्ति जल्हण द्वारा हुई। कथानक से यह भी पता लगता है कि ग्रंथ पृथ्वीराज के सम-सामयिक किसी कवि की रचना है जो उनके दरबार में रहते थे।

पर कुछ विद्वानों ने इस बात पर सन्देह किया है और रासो को एक किसी परवर्ती कवि का, सम्भवतः १६वीं सदी में लिखा हुआ एक जाली ग्रन्थ माना है। इसे अप्रामाणिक एवं अनैतिहासिक माननेवालों में से सर्वश्री रा० च० शुक्ल, रा० कु० वर्मा गौ० ही० ओझा और डॉ० बुलर मुख्य हैं। श्रीश्याम सु० दास और मि० ब० ने इसे प्रामाणिक माना है।

इसकी अप्रामाणिकता का प्रथम कारण, कहा जाता है, यह है कि इसमें वर्णित वृत्तान्तों का और इसमें दिए संवतों का ऐतिहासिक तथ्यों के साथ बिल्कुल मेल न खाना इसके जाली ग्रंथ होने की सूचना देता है। चन्द ने पृथ्वीराज का जन्म-काल १११५, दिल्ली गोद जाना ११२२ में, कन्नौज जाना ११५१ में, शहाबुद्दीन के साथ युद्ध ११५८ में लिखा है। पर शिलालेखों और दान-पत्रों में दिए गए संवतों के साथ, जो वस्तुतः अधिक विश्वसनीय हैं, रासो में दिये गये संवत् मेल नहीं खाते। शिला-लेखों आदि के संवतों से पृथ्वीराज का जो समय निश्चित होता है उसकी सम्यक् पुष्टि फ़ारसी तवारीखों से भी हो जाती है। अतः रासो में दिए गए संवत् अप्रामाणिक और ग़लत ठहरते हैं। मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने रासो की प्रामाणिकता का समर्थन करते हुए इस बात पर ध्यान दिलाया है कि रासो के सब संवतों में यथार्थ संवतों से ९०—९१ वर्ष का अन्तर एक नियम से पड़ता है। इस धारणा की पुष्टि निम्न-लिखित दोहे से की गई है—

एकादस सै पञ्चदह
विक्रम साक अनन्द। (आदि)

उसमें अनन्द का अर्थ उन्होंने किया—अ = शून्य और नन्द = ९, अर्थात् ९० रहित विक्रम संवत। "नन्दवंशी शूद्र थे, इस कारण उनका राजत्वकाल राजपूत भाटों ने हटा दिया। उनकी यह विलक्षण कल्पना" अनुपयुक्त है। क्योंकि ऐसी प्रथा प्रचलित नहीं थी। और, इसके सिवा, रासो में चंगेज, तैमूर आदि कुछ पीछे के नाम भी आते हैं, जिसके कारण, गौ० ही०, ओझा तो इसे "भाटों की कल्पना" मात्र मानते हैं।

इतिहास-विरुद्ध कल्पित घटनाएँ भी भरी पड़ी हैं। यह बात पृथ्वीराज की राजसभा के कश्मीरी कवि जयानक के संस्कृत ग्रन्थ पृथ्वीराज-विजय के प्रकाश में और भी परिपुष्ट और सिद्ध होती है। उसमें दिए हुए संवत एवं घटनाएँ ऐतिहासिक खोज के अनुसार ठीक ठहरती हैं। "उसमें पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी लिखा है जिसका समर्थन हाँसी के शिलालेख से भी होता है। उक्त ग्रन्थ अत्यन्त प्रामाणिक और सम-सामयिक रचना है। उसके तथा हम्मीर महाकाव्य आदि कई प्रामाणिक ग्रन्थों के अनुसार सोमेश्वर का दिल्ली के राजा अनंगपाल की पुत्री से विवाह, पृथ्वीराज का अपने नाना की गोद जाना, राणा समरसिंह का पृथ्वीराज का समकालीन होना और उसके पक्ष में लड़ना, संयोगिता-हरण इत्यादि बातें असंगत सिद्ध होती हैं।" "इसी प्रकार आबू के यज्ञ से चौहान आदि चार अग्निकुलों की प्रथा भी शिलालेखों के जाँच करने पर कल्पित ठहरती है।"

इन बातों के अतिरिक्त पृथ्वीराज विजय से यह भी ज्ञात होता है कि पृथ्वीराज की सभा में चन्द नाम का कोई कवि था ही नहीं, क्योंकि उस ग्रन्थ में जयचन्द ने पृथ्वीराज के मुख्य भाट का नाम पृथ्वीभट्ट बताया है। चन्द बरदाई का कहीं भी उल्लेख तक नहीं है। सच तो यह है कि चन्द ने अपने ग्रन्थ को पूरा नहीं किया वरन् उसके पुत्र जल्हण ने उसे पूर्ण किया तथा उसके पश्चात् भी अनेकानेक परवर्ती कवियों ने उसमें जोड़-तोड़ की। यह बात उसकी भाषा की अनेकावयवता से भी लक्षित होती है, क्योंकि उसमें एक ही शब्द के विभिन्न समय में प्रयुक्त विभिन्न रूपों का व्यवहार बहुत है। यह अनेक व्यक्तियों के स्पर्श और उनके द्वारा परिवर्त्तन का परिचायक है। अरबी फ़ारसी का बाहुल्य तो यह सूचित करता है कि रासो बहुत पीछे की रचना है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में, "भाषा की कसौटी पर ग्रंथ को कसते हैं तो और भी निराश होना पड़ता है। क्योंकि वह बिल्कुल बेठिकाने है। कहीं-कहीं अनुस्वारांत शब्दों की ऐसी भरमार है जैसे किसी ने संस्कृत प्राकृत की नकल की हो। इस दशा में भाटों के इस वाग्जाल के बीच कितना अंश असली है इसका निर्णय असम्भव होने के कारण यह ग्रन्थ न तो भाषा के इतिहास के और न साहित्य के इतिहास के जिज्ञासुओं के काम का है।"

पर बाबू श्यामसुन्दरदास इसे प्रामाणिक बतलाते हुए निम्नलिखित युक्तियाँ पेश करते हैं—

१— इतिहास की भ्रान्तियों का कारण यह है कि चन्द अपने स्वामी का अतिशयोक्तिपूर्ण गुण-वर्णन करना चाहते थे जो कवि के लिए सर्वथा स्वाभाविक है ।

२—जो भ्रान्तियाँ मालूम पड़ती हैं, वे वास्तव में भ्रातियाँ हैं ही नहीं ।

३—यदि कहीं भ्रान्तियाँ हैं भी तो क्षेपकों के कारण ।

मिश्रबन्धु रासो के पक्ष-समर्थन के हेतु कहते हैं—

१—रासों में किसी ऐसे संवत् का व्यवहार है जो वि० से ९० वर्ष पीछे का था ।

२—उर्दू-फ़ारसी का बाहुल्य प्रक्षिप्त अंशों के फलस्वरूप हुआ ।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इसके उत्तर में कहा है कि "कवि को कल्पना के बहाने ऐतिहासिक घटनाओं में मनचाहा परिवर्त्तन करने का अधिकार नहीं है और क्षेपक इतने अधिक हैं कि असल और नक़ल में विभेद करना कठिन हो गया है ।"

डॉ० रा० कु० वर्मा का भी यही विचार है कि "इतिहास में अतिशयोक्ति के लिए स्थान नहीं है ।" वे इसकी अप्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये कहते हैं कि—तिथियों की अशुद्धता तो इतिहास के द्वारा भी प्रमाणित हो गई है । तथा अरबी-फ़ारसी का प्रयोग यत्र-तत्र ही नहीं, वरन् सर्वत्र समान रूप से है । अत: ये क्षेपक के ही कारण नहीं हो सकते । और "भाषा की विभिन्नकालीन विषमता तो रासो की प्रामाणिकता को सबसे अधिक नष्ट करती है ।" एक ही छन्द में शब्दों की विविध रूपावली के दर्शन होते हैं । वर्माजी के शब्दों में, "आज तक की सामग्री के सहारे रासो को प्रामाणिक (और ऐतिहासिक) ग्रन्थ कहना इतिहास और साहित्य के आदर्शों की उपेक्षा करना है ।"

किन्तु डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने रासो को न तो पूर्णतया अप्रामाणिक माना है, न पूर्णतया प्रामाणिक । उनके मत में उसके कतिपय अंश अवश्य प्रामाणिक हैं । शेष प्रक्षिप्त हैं । पृथ्वीराज रासो के प्रामाणिक अंश वे हैं जो तत्कालीन काव्य-परिपाटी के अनुसार शुक-शुकी संवाद के रूप में लिखित हैं, अथवा जहाँ छप्पय छन्दों का विशेष प्रयोग है । पात्रों द्वारा छन्द-सूचना भी तद्युगीन एक परिपाटी थी । इस रूढ़ि का पालन भी जहाँ हुआ है वे अंश प्रामाणिक प्रतीत होते हैं । काव्यरूढ़ियों की दृष्टि से ये प्रसंग प्रामाणिक जान पड़ते हैं—

१. आरंभिक अंश
२. इंछिनी विवाह
३. शशिव्रता का गन्धर्व विवाह
४. तोमर पाहार का शहाबुद्दीन को पकड़ना
५. संयोगिता का जन्म, विवाह तथा
६. इंछिनी ओर संयोगिता की प्रतिद्वन्द्विता और समझौता[1] ।

"इन अंशों में भाषा में उसी प्रकार का बेडौल और बेमेल ठूँस-ठाँस नहीं है और कवित्त का सहज प्रवाह है । इनमें चन्दवरदाई ऐसे सहज प्रफुल्ल कवि के रूप में दृष्टिगत होते हैं जो विषम परिस्थितियों से भी जीवन-रस खींचते रहते हैं ।...निस्संदेह उन्होंने काव्यगत रूढ़ियों का बहुत व्यवहार किया है और परम्परा प्रचलित उपमानों से सौन्दर्य की अभिव्यंजना उनका प्रधान कौशिल है तथापि वह कवि के आनन्द-निर्झर के चित्त को पूर्ण रूप से प्रकट करती है[2] ।"

पृथ्वीराज रासो डिंगल-साहित्य की एक निधि है, क्योंकि चन्द के कथित समय के पश्चात् भी उस जोड़ का ग्रंथ डिंगल-भाषा में नहीं रचा गया। यद्यपि भट्ट केदार ने भी जयचन्द का गुण गाया है, जयचन्द-प्रकाश नामक एक महाकाव्य में; 'जय मयंक जस चन्द्रिका' नामक एक बड़ा ग्रन्थ मधुकर कवि ने भी लिखा है, तथापि ये रासो की समता थोड़े ही कर सकते हैं !

चन्द के पश्चात् जगनिक ने आल्हा और ऊदल के वीर-चरित्र का वर्णन वीर-गीतों में किया जिसका प्रचार जनता में खूब हुआ। आज भी उन्हीं गीतों के आधार पर बने गीत, गाँवों में मेघ-गर्जन के बीच सुनाई देते हैं। एक उदाहरण लीजिए—

बारह बरिस लै कूकर जीए
औ तेरह लै जिये सियार।
बरिस अठारह छत्री जीए
आगे जीवन को धिक्कार ॥

हृदय फड़कानेवाली पंक्तियाँ हैं ! पर ये पृथ्वीराज रासो का स्थान नहीं ले सकतीं ।

———

१ हिन्दी-साहित्य का आदिकाल—डा. ह. प्र. द्विवेदी पृ. ७४ और आगे।
२ हिन्दी-साहित्य—डा. ह. प्र. द्विवेदी पृ. ६३.

रासो-ग्रंथों की परम्परा

हिन्दी साहित्य के इतिहास का आरम्भ वीर गाथाओं से माना जाता रहा है। हिन्दी साहित्य के प्रमुख इतिहास-लेखक पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रथम युग का नाम वीर-गाथाकाल दिया। ये वीर-गाथा ग्रंथ 'रासो' कहलाते हैं। 'रासो' शब्द का संबन्ध कुछ लोगों ने 'रहस्य' से बतलाया है, किन्तु वीसलदेव रासो में काव्य के अर्थ में 'रसायन' शब्द बार-बार आने से शुक्लजी ने 'रसायन' शब्द से ही 'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति मानी है[1]। यों 'रासो' शब्द के मूल के सम्बन्ध में और भी अटकल लगाए गए हैं—राजयश, राजस्य आदि शब्दों से उसकी उत्पत्ति भी ढूँढ़ी गई है। इधर नवीन विचार 'रासक' शब्द के पक्ष में है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृथ्वीराज रासो को 'रासक' काव्य मानते हैं[2]। उनकी दृष्टि में रासक और रासो पर्यायवाची हैं। हेमचन्द्र के काव्यानुशासन के आधार पर[3] द्विवेदीजी ने रासक या रासो को मिश्र गेयरूपक माना है जिसमें आरम्भ में उद्धत प्रयोग

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ०. ३६ [१६६७ संस्करण]

२ हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ.५६ .

३ गेयं डोम्बिकाभाणप्रस्थान शिङ्गक भाणिका प्रेरणराका क्रीड़ हल्लीसक रासक गोष्ठी श्री गदित राग काव्यादि । ८—४ ।

के साथ थोड़ा बहुत मसृण या कोमल प्रयोग की प्रधानता होती थी। इस प्रकार का रासक 'संदेशरासक' को भी बतलाया गया है। किन्तु लक्षण-ग्रन्थों को छोड़, यदि हम लक्ष्य ग्रंथों के आधार पर रासो-ग्रंथों की सामान्य प्रवृत्तियाँ जानना चाहें तो उलझन ही हाथ लगती है और हम किसी नतीजे पर नहीं पहुँच पाते। कारण, अपभ्रंश और हिन्दी में अबतक जो रासो ग्रंथ मिले हैं उनकी प्रकृति इतनी विभिन्न है कि उन्हें किसी एक वर्ग में रखकर उनके आधार पर सामान्य लक्षण-निरूपण सहज संभव नहीं।

शुक्लजी ने इन रासो ग्रन्थों का उल्लेख और विवेचन अपने इतिहास में किया है—खुमान रासो, वीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो (आल्ह खंड), हम्मीर रासो। इनकी प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर शुक्लजी के विचार में राजाश्रित कवि इन ग्रन्थों में अपने आश्रयदाता "राजाओं के शौर्य, पराक्रम और प्रताप का वर्णन अनूठी उक्तियों के साथ किया करते थे और अपनी वीरोल्लासभरी कविताओं से वीरों को उत्साहित किया करते थे।......इसी से यह काल वीरगाथाकाल कहा गया।" किन्तु, इन रासो-ग्रन्थों की न तो प्रामाणिकता शुक्लजी के युग में निश्चत हो पाई थी और न इनका पाठ-शोध और आलोचनात्मक अध्ययन ही संभव हो सका था। शुक्लजी स्वीकार करते हैं - "प्राकृत की सदियों से बहुत कुछ मुक्त भाषा के जो पुराने काव्य—जैसे, वीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो—आजकल मिलते हैं वे संदिग्ध हैं[1]।" श्री मोतीलाल मैनारिया, जिन्होंने राजस्थानी साहित्य पर काफी खोजपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है, उपर्युक्त अधिकांश रासो ग्रंथों को अप्रामाणिक अथवा परवर्त्ती रचना मानते हुए १०५०—१३५० वि० के युग को वीरगाथाकाल की संज्ञा देना भी अनुचित समझते हैं। 'खुमान रासो' के लेखक दलपत विजय के संबन्ध में मैनारियाजी का कथन है—"हिन्दी के विद्वानों ने इनका मेवाड़ के रावल खुमान द्वितीय (सं० ८७०) का समकालीन होना अनुमानित किया है, जो गलत है। वास्तव में इनका रचनाकाल सं० १७३० और १७६० के मध्य में है। इनका रचा 'खुमान रासौ' एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसमें बापा रावल (सं० ७९१) से लेकर महाराजा राजसिंह (सं० १७०९—३९) तक के मेवाड़ के राजाओं का वृत्तान्त है[2]।" वीसलदेव रासो

१ हिन्दी सा. का इतिहास. पृ. ३५
२ राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ. ८२

के रचियता नरपति नाल्ह के संबन्ध में मैनारियाजी लिखते हैं—"सोलहवीं शताब्दी में नरपति नाम का एक कवि गुजरात में हुआ है, जिसके लिखे चार ग्रन्थों का पता है; नन्द बत्तीसी (सं० १५४५), विक्रम पंचदंड (सं० १५६०), स्नेह-परिक्रम और निःस्नेहपरिक्रम । अनुमान होता है कि इन ग्रन्थों का कर्त्ता नरपति और वीसलदेव रासो का रचियता दोनों एक हैं । क्योंकि इनकी भाषा-शैली और शब्दावली बहुत मिलती है[१] ।" पृथ्वीराज रासो को म० म० डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने १६०० वि० के आसपास की रचना प्रमाणित करने की चेष्टा की थी । किन्तु, मैनारियाजी उतना भी मानने को तैयार नहीं—"वास्तव में न तो रासो की सबसे प्राचीन प्रति सं० १६४१ की लिखी हुई है और न रासो का निर्माण-काल सं० १६०० के आसपास है । सं० १७०० और सं० १७३२ के बीच किसी समय यह रचा गया है[२] । जोधराजकृत हम्मीर रासो का रचना-काल मैनारियाजी ने सं० १७८५ माना है ।[३] अतएव इन रासो ग्रंथों को, जिनके आधार पर शुक्लजी ने १०५०—१३५० वि० की अवधि को वीर-गाथाकाल की संज्ञा दी थी, १७वीं—१८वीं शताब्दियों की रचना मानते हुए मैनारियाजी ने उक्त अवधि को वीरगाथाकाल कहना अनुचित समझा ।

किन्तु हाल के खोजकार्यों के जो परिणाम सामने आए हैं उनसे मैनारिया जी के इन विचारों की पुष्टि नहीं होती । डा० माताप्रसाद गुप्त तथा श्री अगरचन्द नाहटा द्वारा संपादित 'बीसलदेव रासो' की भूमिका में डा० गुप्त का कथन है—"मेरा अपना अनुमान है कि 'बीसलदेव रासो' की रचना चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक अवश्य हो गई होगी ।...उपर्युक्त कारणों से यह मानना असंभव है कि 'बीसलदेव रासो' सोलहवीं शताब्दी के किसी कवि की रचना है[४] ।" पृथ्वीराज रासो के संबन्ध में भी विचार बदले हैं । बहुत पहले यह ग्रन्थ अत्यत प्रामाणिक माना गया था और बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने इसका प्रकाशन आरम्भ किया था । किन्तु काश्मीर में डा० बूलर

---

१ वही, पृ. ८८

२ वही, पृ. ९६

३ वही; पृ, १८८

४ बीसलदेव रासो-सं० डा० माता प्रसाद गुप्त और श्री अगरचन्द नाहटा (प्रकाशक, हिन्दी परिषद, विश्वविद्यालय, प्रयाग)

की 'पृथ्वीराज विजय' की एक खंडित प्रति मिली। इसके आलोक में ऐतिहासिक तथ्यों के तुलनात्मक अध्ययन के परिणामस्वरूप 'पृथ्वीराज रासो' को अप्रामाणिक करार दिया गया और बंगाल से उसका प्रकाशन बंद हो गया। बाद में काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा यह प्रकाशित हुआ। अब डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे अंशतः प्रामाणिक मानने का प्रस्ताव किया है। इस प्रस्ताव में तथ्य जान पड़ता है, क्योंकि द्विवेदीजी ने जो तर्क दिये हैं, वे निराधार नहीं। तद्युगीन काव्यरूढ़ियों के आधार पर पृथ्वीराज रासो के मूल प्रामाणिक अंश को परवर्त्ती रूपकों से अलग करने का प्रयास द्विवेदीजी ने किया है। उनके विचार में १२ वीं-१३ वीं शताब्दियों की एक रूढ़ि थी, संवाद रूप में कथा या चरित्र का वर्णन। विद्यापति की 'कीर्तिलता' में भी भृंग और भृंगी के संवाद-रूप में कथा कही गई है। 'प्रत्येक पल्लव के आरम्भ में भृंगी भृंग से प्रश्न करती है और फिर भृंग कहानी शुरू करता है। रासो के वर्त्तमान रूप को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि मूल रासो में भी शुक और शुकी के संवाद की ऐसी ही योजना रही होगी। मेरा अनुमान है कि इस मामूली से इंगित को पकड़कर हम मूल रासो के कुछ रूप का अंदाज लगा सकते हैं।'[1] द्विवेदीजी निम्नलिखित प्रसंगों को रासो के प्रामाणिक अंश मानते हैं—

१. आरंभिक अंश,

२ इंछनी विवाह,

३ शशिव्रता का गन्धर्व विवाह,

४ तोमर पाहार का शहाबुद्दीन को पकड़ना,

५ संयोगिता का जन्म, विवाह तथा इंछनी और संयोगिता की प्रतिद्वन्द्विता और समझौता[2]।

बाद में और भी कई प्रसंग मिला दिए गए और रासो का आकार बढ़ गया। प्राचीन रासो ग्रन्थों की सामान्य प्रवृत्तियों के अध्ययन के लिए पहले रासो के प्रामाणिक मूलरूप का निर्णय कर लेना आवश्यक था। इस मूल रूप का प्रकाशन हाल में द्विवेदीजी और श्री नामवर सिंह के सम्पादकत्व में 'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' शीर्षक से हुआ है। इस मूल रूप

---

१ हिंदी साहित्य का आदि-काल, पृ. ६१

२ हिंदी साहित्य —डा० ह. प्र. द्विवेदी, पृ.६२

को देखते हुए द्विवेदीजी का मत है—"रासो आरम्भ में ऐसा कथाकाव्य था जो प्रधान रूप से उद्धत-प्रयोग-प्रधान मसृण-प्रयोगयुक्त गेय रूपक था। उसमें कथाओं के भी लक्षण थे और रासकों के भी।...जिस प्रकार 'विलास' नाम देकर चरितकाव्य लिखे गए, 'रूपक' नाम देकर चरितकाव्य लिखे गए, 'प्रकाश' नाम देकर चरितकाव्य लिखे गए, उसी प्रकार 'रासो' या 'रासक' नाम देकर भी चरितकाव्य लिखे गए। जब इन काव्यों के लेखक इन शब्दों का व्यवहार करते होंगे तो अवश्य ही उनके मन में कुछ न कुछ विशिष्ट काव्यरूप रहता होगा। राजपूताने के डिंगल-साहित्य में परवर्ती काल में ये शब्द साधारण चरितकाव्य के नामान्तर हो गए हैं। बहुत से चरितकाव्यों के साथ 'रासो' नाम जुड़ा मिलता है—जैसे, रायमल रासौ, राणा रासौ, सगत-सिंघ रासौ, रतनरासौ, इत्यादि।......ये काव्यरूप किसी समय गेय और अभिनेय थे। 'रासक' का तो इस प्रकार का लक्षण भी मिल जाता है। परन्तु धीरे-धीरे ये भी कथा-काव्य या चरित-काव्य के रूप में ही याद किए जाने लगे।"[१]

किन्तु, 'रासो' की प्रवृत्तियों के अध्ययन के प्रसंग में उन रासो कहे जानेवाले अन्य ग्रंथों का भी ध्यान रखना होगा जो अध्ययन और खोज-सम्बन्धी कार्यों के परिणामस्वरूप प्रकाश में आए हैं। अपभ्रंश भाषा में ऐसे दो रासो-ग्रन्थ बताए गए हैं—'मुंज रास, और 'संदेश-रासक'[२]। मुंज रास की कोई प्रति तो अभीतक उपलब्ध नहीं हो सकी है, किन्तु उसका उल्लेख हेमचन्द्र के व्याकरण 'सिद्ध हैम' तथा मीरतुंग के 'प्रबन्ध चिंतामणि' (स' १३६१) में हुआ है। 'सिद्ध हैम' में 'मुंज रास' के सिर्फ दो छंद उद्धृत हैं। 'प्रबन्धचिन्तामणि' में कुछ अन्य छन्दों के अतिरिक्त मुंज की कथा दी हुई है। मुंज का समय सं० १००७ से १०५४ तथा 'सिद्धहैम' का रचना-काल संम्भवतः ११९७ वि० है। अतः 'मुंजरास' की रचना सं० १०५४-११९७ के बीच में हुई होगी। 'सन्देश-रासक' के रचनाकाल के सम्बन्ध में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है —"हेमचन्द्र के दोहों में सन्देश रासक के एक दोहे को उद्धृत देखकर इसे ग्यारहवीं शती का काव्य ही मानना ठीक जान पड़ता है[3]। कुछ अन्य

१ हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, पृ. ६०

२ हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ४, अङ्क ४, पृ. २ [ग. भा. प्र. गुप्त का निबंध]

३ हिंदी-साहित्य—डा० ह. प्र. द्वि., पृ. ७१

विद्वानों ने इसका समय सं० १२०७ के आसपास माना है[1]। ये दोनों रासो ग्रन्थ प्रबन्ध-काव्य हैं। 'संदेश रासक' की छन्द संख्या २२३ है, मुंजरास की ज्ञात नहीं। संदेश रासक में बाइस प्रकार के छन्द हैं, मुंजराज के अभी तक दोहा मात्र मिले हैं। दोनों में गेय कोई नहीं। विषय देखें तो 'सन्देश-रासक' में केवल प्रवासजनित वियोग का वर्णन है, तथा कथा सुखान्त है। मुंजरास मुंज के जीवन का अधिक व्यापक चित्रण है तथा कथा दुखान्त है। सन्देश-रासक में स्वकीया-प्रेम-चित्रण है, मुंजरास में परकीया-प्रेम-वर्णन। अतः इन दोनों ग्रंथों के आधार पर हम रासो ग्रन्थों के सामान्य लक्षणों का निरूपण नहीं कर सकेंगे। हाँ, यहाँ तक डा० द्विवेदी की इस मान्यता से सहमत हुआ जा सकता है कि रासो चरितकाव्य होते थे।

अपभ्रंश में 'उपदेश रसायन रास' नामक जिनदत्त सूरि द्वारा रचित एक और रासो ग्रन्थ मिला है। किन्तु यह साम्प्रदायिक रचना है। जैन-धर्म का प्रतिपादन ८० चतुष्पदियों में—जिनका छन्दविधान समान है—हुआ है। रस केवल शान्त है।

गुर्जर साहित्य में भी कई रासो ग्रन्थ हैं, किन्तु वे जैन कवियों की धर्म-सम्बन्धी छोटी रचनाएँ मात्र हैं। उदाहरण, शालिभद्र सूरि (सं० १२४१) कृत 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' तथा 'बुद्धि रास' हैं। प्रथम में २०३ तथा द्वितीय में केवल ६३ छन्द हैं। प्रथम में वीर तथा द्वितीय में शान्त रस प्रमुख है। प्रथम का विषय है भगवान ऋषभदेव के पुत्रों—भरतेश्वर और बाहुबलि के बीच राज्य के लिए संघर्ष और दूसरे का विषय है उपदेश। 'राजस्थानी भाषा और साहित्य सम्बन्धी निबंध में भी नरोत्तमदास स्वामी ने माधौदास कृत 'राम रासो' का उल्लेख किया है जिसमें रामायण की कथा कही गई है[2]।

अतएव, इन रासो ग्रंथों के आधार पर हम उनके सामान्य लक्षणों या प्रवृत्तियों का निर्णय नहीं कर पाते। रीति-साहित्य से भी विविध उत्तर मिलते हैं। विरहांक की पुस्तक 'जाति समुच्चय' में यह उल्लेख है—

अडिलाहि दुवह एहि व मत्ता रड्डहि तहअ ढोसाहि।
बहुएहि जो रइज्जइ सो भएणइ रासओ णाम ॥४।३८॥

[रासो उस रचना का नाम है जिसमें अनेक अडिल्ला, दोहा, मात्रा, रड्डा और ठोस छन्द पाए जाते हैं।]

---

१ हिंदी अनुशीलन—वर्ष ४, अंक ४, पृ. ३

२ आलोचना—इतिहास शेषांक, पृ०. १११

स्वयंभू की उक्ति है—

धत्ता छड्डणिआहि पद्धडिआहि सुअण्ण रूएहि ।
रासा बंधोकधे जणमण - अहिरामो होइ ॥ (८।४९)

[रासाबंध धत्ता, छड्डणिया, पद्धडिया तथा अन्य रूपकों के कारण जन-मन अभिराम होता है ।]

डा० माताप्रसाद गुप्त के शब्दों में—"इसके आगे अपभ्रंश के रीतिग्रन्थ भी हमारी सहायता नहीं करते । विविध प्रकार के रास, रासावलय, रासा और रासक छन्दों, रासक और नाट्यरासक उपनाटकों, रासक, रास तथा रासो नृत्यों और नृत्तों से भी रासो प्रबन्ध-परम्परा का निकट का सम्बन्ध रहा है, यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता । कदाचित् नहीं रहा है । प्राप्त रासो ग्रंथों से यही ज्ञात होता है । फलत: इस विषय पर और अधिक गवेषणा और अन्वेषण की आवश्यकता स्वत: प्रकट है[1] ।

एक विचार यह भी है कि रासो शब्द का मूल चाहे जो भी हो, यह अपने वर्तमान रूप में अभी भी राजस्थानी भाषा में जीवित है । इसका अर्थ होता है, आपसी कलह, प्रेम-कलह आदि ।

किन्तु, जबतक इन ग्रंथों पर कुछ और प्रकाश नहीं पड़ता, हम रासो ग्रंथों के ये सामान्य लक्षण उपर्युक्त विवेचन के आधार पर मान सकते हैं—

१—'रासो' शब्द का सम्बन्ध 'रासक' शब्द से है । रासक या रास एक छन्द का नाम भी है जिसका लक्षण इस प्रकार है—

२२ मात्राएँ; अंत सगण या ।।ऽ ; ८+८+६ पर यति[2] । श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने इस छन्द का लक्षण इस प्रकार दिया है—

बसु बसु धारौ पुनि रस सारौ रास रचौ ।
तप तप काहे देही दाहे अग्नि पचौ ॥
काम तजौ धन धाम तजौ हरि भक्ति सजौ ।
राम भजौ बलराम भजौ श्रीकृष्ण भजौ[3] ॥

अर्थात् ८+८+३ पर यति, अन्त लघु लघु गुरु । इसी लक्षण में उदाहरण भी निहित है । यह छन्द महारौद्र जाति का है, और वीर तथा श्रृंगार के मिश्र

---

१ हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ४, अंक ४, पृ. ५
२ हिन्दी छन्द-प्रकाश—रघुनन्दन शास्त्री, पृ. २४५
३ छन्द: प्रभाकर—भानु, पृ. ५९ ।

वर्णन के अनुकूल पड़ता है। संगीत-शास्त्र के हिसाब से इसका लय द्रुत और विलंबित है। चरित काव्य में, अनुमान है कि, पहले अन्य छन्दों के साथ इस छन्द का अधिक प्रयोग होता होगा। बाद में इस काव्य-रूप को ही रासक कहने लग गए।

२—'रासो' गेय हुआ करता था। रास छन्द भी गेय है। संस्कृत वर्ण-वृत्तों की कठोरता इसमें नहीं। इसमें मात्रावृत्तों का सहज लचीलापन है जिसके कारण छन्द-लय एक होते हुए भी अनेक संगीत-लयों की उत्पत्ति सम्भव होती है।

३—'रासो' का संबंध प्रायः ऐतिहासिक चरित्रों से होता था। किन्तु 'सन्देश रासक' आदि से स्पष्ट है कि इस नियम का पालन कठोरता के साथ नहीं हुआ करता था। सामान्य चरितगान ही सदैव अपेक्षित था।

४—जैसा डा० हजारीप्रसादजी ने कहा है, 'रासो' में ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम भर लिए जाते थे। इतिहास का वैज्ञानिक दृष्टिकोण, तटस्थ यथातथ्य चित्रण 'रासो' में अपेक्षित नहीं हुआ करता था। घटनाओं की योजना ऐतिहासिक तथ्यों को छोड़कर संभावनाओं के आधार पर कविकल्पना का पल्ला पकड़ कर की जाती थी[१]।

५—'रासो' का आकार निर्द्धारित नहीं था, किन्तु ये ग्रंथ न तो बहुत बड़े और न बहुत छोटे ही होते थे।

---

१ हिंदी-साहित्य का आदिकाल—चतुर्थ व्याख्यान।

विद्यापति की काव्य-धारा

वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी शान कहाँ,
ओ री उदास गण्डकी बता
विद्यापति कवि के गान कहाँ!—'दिनकर'

आज चाहे वैशाली के खण्डहर अतीत गौरव की कहानी न कह सकें, चाहे लिच्छवियों की कीर्ति-पताका हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर न फहराती हो, पर उदास गंडकी के तीर पर मिथिला की अमराइयों में माधुर्य और संगीत का प्रवाह लिए विशापति के गीत आज भी गूँज रहे हैं! सूर और तुलसी की अमर रचनाओं के साथ-ही-साथ विद्यापति की पदावली आज भी हमारी संस्कृति को पोषण देकर अनुप्राणित कर रही है।

विद्यापति हमारे हैं, हिन्दी संसार के हैं। इसमें आज हमें गौरव हो रहा है। गौरव इसलिए भी कि बहुत परिश्रम के बाद, वर्षों के अनुसन्धान के बाद, वे हमें मिले हैं। और इसका श्रेय है श्री राजकृष्ण मुकर्जी और डा० ग्रियर्सन जैसे विद्वानों को। विद्यापति के जीवन, उनकी साहित्यिक कृतियाँ और कुछ बहिर्गत प्रमाणों के आधार पर ये इस निष्कर्ष पर अन्ततः पहुँचते हैं कि विद्यापति बंगाली कवि नहीं थे वरन् मैथिल थे और उनकी कविता की भाषा, जो अब तक बंगाली का एक रूप समझी जाती थी, वस्तुतः बंगाली न होकर मैथिली है।

मैथिली, बंगाली का एक रूप नहीं है वरन् विहारीभाषा के अन्तर्गत गंगा के उत्तर में दरभंगा के आस-पास बोली जाने वाली एक 'बोली' है ! विहारी भाषा भी मागधी अपभ्रंश से उसी प्रकार निकली है जैसे बंगाली, आसामी और उड़िया । अतः यह पश्चिमी हिन्दी, जो शौरसेनी अपभ्रंश से निकली है, और पूर्वी हिन्दी जो अर्द्धमागधी अपभ्रंश से निसृत है, दोनों से, उत्पत्ति की दृष्टि से, भिन्न है ! डा० धीरेन्द्र वर्मा के शब्दों में "यद्यपि राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से बिहार का संबंध संयुक्त प्रान्त से रहा है, किन्तु उत्पत्ति की दृष्टि से यहाँ की भाषा बंगाली की बहिन है।" उक्त बात की पुष्टि हिन्दी, मैथिली और बंगाली आदि के व्याकरण और उनकी प्रवृत्तियों पर ध्यान देने से हो जाती है। हम देखते हैं, हिन्दी सर्वथा वियोगात्मक अवस्था (analytic stage) में है, पर बङ्गाली और मैथिली दोनों ही अभी संयोगावस्था (agglutionative stage) की भाषाएँ हैं। क्योंकि षष्ठी विभक्ति के लिए हम आज भी बँगला में हिन्दी की भाँति 'राम का' न लिखकर 'रामेर' और मैथिली में भी 'रामक' लिखते हैं।

फिर भी विद्यापति को जो हम हिन्दी-कवियों की श्रेणी में लाकर बिठाते हैं उसके कारण हैं। आरम्भ से ही बिहार का सम्बन्ध संयुक्त प्रान्त से सांस्कृतिक रूप से रहा है। अतः भावों के परस्पर आदान-प्रदान के कारण मैथिली और हिन्दी में अनेक समानताएँ आ गई हैं। यह उनके वर्णविन्यास, शब्दशली और वाक्य-रचना-प्रणाली तक में परिलक्षित है। इसीलिये विद्यापति की पदावली को जितनी आसानी से बंगाली समझ सकते हैं उससे अधिक सुगमतापूर्वक हिन्दी भाषा-भाषी प्रांत के लोग समझेंगे। और भी, मैथिली उस प्रान्त की भाषा है, जहाँ हिन्दी ही साहित्यिक भाषा के रूप में अधिष्ठित है, बंगला नहीं। बिहार प्रांत में शिक्षा का माध्यम भी तो हिन्दी ही है। अतः विद्यापति की पदावली हिन्दी-संसार की ही अमूल्य निधि है।

भावों की दृष्टि से इसका सम्बन्ध हिन्दी साहित्य की कृष्णकाव्य-परम्परा से जुटता है। एक ओर दार्शनिक विचारों की दृष्टि से जहाँ विद्यापति ने निम्बार्क के द्वैताद्वैत मत (सनकादि संप्रदाय) से प्रेरणा ली, वहाँ दूसरी ओर अपने काव्यगत कलात्मक आदर्शों की दृष्टि से ये जयदेव से अत्यन्त प्रभावित हुए। जयदेव की 'कोमल कान्त पदावली' का प्रभाव इनके सुकुमार शृङ्गारिक पदों में स्पष्ट रूप से है। इनकी पदावली में पाण्डित्य और अर्थगम्भीरता नहीं, बरन् डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में 'विद्यापति की पदावली संगीत के स्वरों

में गूँजती हुई राधाकृष्ण के चरणों में समर्पित की गई है। उन्होंने प्रेम के साम्राज्य में अपने हृदय के सभी विचारों को अन्तर्हित कर दिया है।' उनकी कला को उनके जीवन की रूपरेखा ने भी प्रभावित किया है। अतः उनके जीवन की दो एक बातें भी देखें।

"विद्यापति एक विद्वान वंश के वंशज थे।" उनके पिता गणपति ठाकुर और पितामह जयदत्त संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। विद्यापति दरभंगा जिले के बिसपी ग्राम के रहनेवाले थे। यह गाँव उन्होंने अपने संरक्षक राजा शिव-सिंह से उपहार-स्वरूप पाया था। १४०० ई० में विद्यापति ने उक्त राजा से एक ताम्रपत्र और अभिनव जयदेव की उपाधि प्राप्त की। इनका प्रवेश सम्भवतः हरम में भी था; क्योंकि इन्होंने शिवसिंह की स्त्री रानी लखिमादेई (लक्ष्मीदेवी) का वर्णन भी अपने पदों में किया है।

ठाकुर उमेशमिश्र के अनुसार विद्यापति का जन्म-संनत् १४२५ और मृत्यु-संवत् १५३२ है।

डा० रामकुमार वर्मा लिखते हैं कि ये "अपने समय के बड़े सफल कवि थे और इन्हें अनेक उपाधियाँ भी मिली थीं।" जैसे—

१—अभिनव जयदेव
२—दश विधान
३—राजपंडित
४—कंठहार
५—नव कवि शेखर
६—सरस कवि, आदि-आदि।

इनका अधिकार मैथिली पर ही नहीं था, वरन् संस्कृत और अपभ्रंश में भी इन्होंने रचनाएँ की हैं जो निम्नलिखित हैं—

संस्कृत—१—शैव सर्वस्वसार
२—भू परिक्रमा
३—पुरुष-परीक्षा
४—लिखनावली
५—गंगावाक्यावली
६—दानवाक्यावली
७—विभागसार

८—गया पत्तलक

९—दुर्गा भक्ति तरंगिणी

१०—वर्ण कृत्य

११—शैव सर्वस्वसार–प्रमाण भूत पुराण–संग्रह

अवहट्ठ (अपभ्रंश)—

१—कीर्तिलता

२—कीर्ति पताका

मैथिली—पदावली जिसमें उनके जीवन भर में रचे गए पदों का संग्रह है ।

डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार इन पदों के तीन वर्ग किए जा सकते हैं—

१–शृङ्गार संबन्धी

२–भक्ति सम्बन्धी

३—कालसम्बन्धी

काल-सम्वन्धी पदों में तत्कालीन परिस्थितियों के चित्र हैं, जिसमें शिव-सिंह के राज्याभिषेक आदि की बातें वर्णित हैं। भक्तिसम्बन्धी पदों में शिव, दुर्गा और गंगा की भक्ति और प्रार्थनाएँ हैं ।

शृंगार सम्बन्धी उनके पदों में राधाकृष्ण के प्रेम-मिलन की प्रधानता है। पदावली में आधिक्य इन्हीं का है । इन पदों के सम्बन्ध में डा० रामकुमार वर्मा कहते हैं—"विद्यापति शैव थे । अत: उन्होंने शिव सम्बन्धी जो पद लिखे हैं वे तो अवश्य भक्ति से ओत-प्रेत हैं, किन्तु श्रीकृष्ण और राधा सम्बन्धी उन्होंने जो पद लिखे हैं, उनमें भक्ति न होकर वासना है । इस क्षेत्र में जयदेव की शृंगार-गावना ने विद्यापति को बहुत अधिक प्रभावित किया है। विद्यापति की कविता में भौतिक प्रेम की छाया स्पष्ट है।" वे फिर कहते हैं—"वय:सन्धि, नखशिख, अभिसार, मान, विरह आदि से कवि की भावना इस प्रकार सम्बद्ध हो गई है मानो नायक-नायिका के कार्य-व्यापार कवि की वासनामयी प्रवृत्ति के अनुसार हो रहे हैं……उनके सामने राधा और कृष्ण अपना सिर झुका कर……कार्य करते हैं।……इसके बीच में ईश्वरीय अनुभूति की भावना नहीं मिलती। एक ओर नवयुवक चंचल नायक है, दूसरी ओर यौवन और सौन्दर्य की सम्पत्ति लिए राधा।"[1]

१ हिन्दी-साहित्य का आ. इ.—डा० रामकुमार वर्मा ।

उपर्युक्त विचारों में कहाँ तक तथ्य है इसका विचार करें। उनके मत में राधा और कृष्ण का यह प्रेम-चित्रण वासना-रंजित है, उद्दाम शृंगारिकता से पूर्ण है। यह तो ठीक है, जैसा वे कहते हैं कि—"विद्यापति की कविता में शृंगार का प्रस्फुटन स्पष्ट रूप से मिलता है। भाव, आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का दिग्दर्शन उनकी पदावली में सुन्दर रीति से मिल सकता है। स्थायी भाव रति भी आदि से अन्त तक है।" और यह उनकी कला की पूर्णता, उत्कृष्टता का ही परिचायक है! पर यह मन्तव्य कि यह शृंगार लौकिक वासना-जन्य है, हमें ग्राह्य नहीं। इसके कारण हैं। राधा-कृष्ण की अति-मानवता और हिन्दू-हृदय की उस दैवी भावना के कारण, जिसमें सदियों से राधा-कृष्ण के लिए पूज्य भाव मिश्रित रहा है, विद्यापति की शृंगार-भावना में कुछ असाधारणता है। यद्यपि उन्होंने केलि आदि का वर्णन किया है, पर उसमें कुछ विशेषता है। हमारे हृदय की कुत्सित भावनाओं से उसका सम्बन्ध नहीं। विद्यापति का शृंगार आध्यात्मिकता की पुनीत अन्तर्धारा से अभिव्याप्त है।

डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री के मतानुसार विद्यापति में हम "कृष्ण के शैशव और राधा के यौवन का विषम व्याघातात्मक समन्वय पाते हैं।" यह सामान्य शृंगारिक भावना में सम्भव नहीं। इस प्रकार का समन्वय हम कई स्थानों में सूरदास में भी पाते हैं—

प्रथम करी हरि माखन चोरी।
ग्वालिन मन इच्छा करि पूरन
आपु भजे हरि ब्रज की खोरी।

× × ×

बाल रूप जसुमति मोहि जाने
गोपिन मिलि सुख भोगू।
सूरदास प्रभु कहत प्रेम सों
घेरो रे ब्रज लोगू॥

प्रथम पंक्ति में वात्सल्य, द्वितीय और तृतीय में शृंगार और अन्तिम में शान्त रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। यह रसों की त्रिधारा इसीलिए सम्भव हुई क्योंकि राधा और कृष्ण मानव नहीं हैं और उनके प्रेम में असाधारणता

है, अपार्थिवता है, वासनाहीनता है। तभी तो बालक होते हुए भी कृष्ण गोपियों के माधुर्यभाव की तृप्ति में समर्थ थे !

डा० रामकुमार वर्मा पुनः लिखते हैं—"विद्यापति ने राधा-कृष्ण का जो चित्र खींचा है, उसमें वासना का रंग बहुत ही प्रखर है। आराध्यदेव के प्रति भक्त का जो पवित्र विचार होना चाहिए, वह उसमें लेशमात्र भी नहीं है। सख्यभाव से जो उपासना की गई है उसमें कृष्ण तो यौवन में उन्मत्त नायक की भाँति हैं और राधा यौवन की मदिरा में मतवाली एक मुग्धा नायिका की भाँति। राधा का प्रेम भौतिक और वासनामय प्रेम है।" पर विद्यापति के निम्नलिखित पदों के गम्भीर अर्थ की ओर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि विद्यापति ने यह कभी भुला नहीं दिया कि कृष्ण हमारे आराध्यदेव हैं, भगवान हैं—

धनि धनि रमनि जनम धनि तोरि।
जिहि जग कान्हि कान्हि करि झूरै,
से तुव भाव विभोर।

यहाँ उसी 'कान्ह' से तात्पर्य है जिसकी खोज नें बड़े-बड़े ऋषि-मुनि तिमिरमय कन्दराओं और बीहड़ वनों को झेलते आए हैं, और वही कृष्ण, राधा और गोपियों के भाव में विभोर हैं। क्या यह वासनामय प्रेम का प्रसाद हो सकता है ? और भी,

एकहि नगर बस माधव रे,
जनि करवट मारि।
छाड़ु कन्हैया मोर आँचर रे,
फाटत नव सारि ॥
हरिक—सङ्ग किछु डर नहिं रे,
तो है परम गँवारि।

'हरिक' शब्द में शान्त रस के साथ-ही-साथ विष्णुभाव की व्यंजना है ! इन पदों को देखते हुए कैसे कहा जाय कि कृष्ण का चित्रण आराध्यदेव के रूप में नहीं है, और राधा का प्रेम भौतिक, वासना-जन्य है ? इनमें हम भगवद्-भावना की एक पावन अन्तर्धारा प्रवहमान पाते हैं। अङ्गरेजी कवि बाइरन की भाँति विद्यापति का यह सिद्धान्त नहीं है—"The days of our youth are the days of our glory."

विद्यापति शिव के भक्त थे, इसलिए वे विष्णु के या कृष्ण के भक्त नहीं हो सकते, तथा कृष्ण सम्बन्धी उनकी पंक्तियों में भक्ति-भाव नहीं हो सकता—ऐसा वे ही कहते हैं जो विद्यापति के युग की उस धर्म-भावना से अपरिचित हैं, जो पूर्वी प्रान्तों में फैली थी और जिसकी प्रेरणा से विद्यापति ने लिखा था—

खन हरि खन हर की नव कला;
खन पीत वसन खनहूँ बघ - छला।

वस्तुतः शिव और विष्णु में अभेद मानना—दोनों को एक ही भगवत्तत्व के दो पहलू मानना उस युग की एक प्रवृत्ति थी।[१]

हाँ, यह बात अवश्य है कि सत्यं, शिवं और सुन्दरं में न केवल सुन्दरं की विशेषता वरन् सुन्दरं का अति-चित्रण भी हुआ है ! सुन्दरं की यह अति-रंजित भावना क्षण भर के लिए विद्यापति की आध्यात्मिकता को ढक भले ही ले, पर ईशभावना का चिरन्तन श्रोत अन्तःसलिला फल्गू की भाँति अप्रकट रूप में भी बहता ही है।

सौन्दर्य के इस अति चित्रण का प्रभाव हुआ उनकी कविता में कलापक्ष का उत्कर्ष ! डा० वर्मा के शब्दों में "विद्यापति का संसार ही दूसरा है। वहाँ सदैव कोकिलाएँ ही कूजन करती हैं। फूल खिला करते हैं, पर उनमें काँटे नहीं होते। राधा रात भर जागा करती है। उसके नेत्रों में ही रात समा जाती है। शरीर में सौन्दर्य्य के सिवाय कुछ भी नहीं है। पथ है, उसमें भी गुलाब है; शैया है, उसमें भी गुलाब है; शरीर है, उसमें भी गुलाब। सारा संसार ही गुलाब-मय है।" राधा का रूप ऐसा है मानों "सुनहले स्वप्न मनुष्य के रूप में अवतरित हुए हैं। जहाँ उसके पैर पड़ते हैं, वहाँ कमल खिल उठते हैं। उसकी चितवन में कामदेव के वाण हैं, पाँच नहीं, वरन् सभी दिशाओं में छूटे हुए सहस्र वाण !"

सद्यःस्नाता के वर्णन में विद्यापति ने कमाल कर दिया—

कामिनि करे सनाने।
हेरतहि हृदय हनए पंचबाने।
चिकुर गरै जलधारा,
जनु मुख ससि डर रोय अँधारा।।

१ हिन्दी-साहित्य का आदिकाल—डा० ह० प्र० द्विवेदी।

वे काव्य शास्त्र-मर्मज्ञ थे। अतः शृंगार रस के सभी अंगों की सम्यक् योजना द्वारा उसका सुन्दर परिपाक वे सफल रीति से कर सके। राधा के सौन्दर्य की एक रेखा देखिये—

कि आरे नव यौवन अभिरामा।
जत देखल तत कहये न पारिअ,
छओ अनुपम इकठामा॥

उद्दीपन विभाव का एक नमूना भी देखिये—

बाल वसन्त तरुण भये धाओल,
बढ़ये सकल संसारा।
दखिन पवन धन अंग उगारए
किसलय कुसुम परागे,
सुललित हार मजरि घन कज्जल
आँखितौ अञ्जन लागे।

और अनुभाव की एक रूपरेखा भी—

सुन्दरि चललिहु यहु घरना।
चहु दिसि सखि सबकर धरना।
जाइतनु हार टुटिये गेलना।
भूखन वसन मलिन भेल ना।
रोये रोये काजल दहाई देल ना।
अदकंहिं सिंदुर मिटाये देल ना।
जाइतेहु लागु परम डर ना।
जइसे ससि काँप राहु डरना।

पर सौन्दर्य के अतिचित्रण के ही कारण यदि यह कहें कि "विद्यापति के इस वाह्य संसार में भगवद् भजन कहाँ, इस वयःसन्धि में ईश्वर की सन्धि कहाँ, सद्यःस्नाता में ईश्वर से नाता कहाँ, और अभिसार में भक्ति का सार कहाँ," तो इन शब्दों में काव्य का चमत्कार, अनुप्रास की छटा भले ही हो, पर सत्य की पूरी-पूरी अभिव्यक्ति नहीं। अधिक सत्य तो यह है कि विद्यापति की भक्ति तुलसी की भाँति दास्यभाव की न थी। विद्यापति के सख्य-भाव में सौन्दर्य-भावना की काफ़ी गुंजाइश है, इससे इनकार नहीं हो सकता। अतः यदि तुलसी मी भाँति वे यह नहीं कहें कि—

विषय वारि मन मीन भिन्न नहिं
होत कबहुँ पल एक।
ताते सहहुं विपति अति दारुन
जनमत जोनि अनेक॥
कृपा डोरि बंशी पद अंकुश
परम प्रेम मृदु चारो,
एहि विधि बेधु हरहु मेरो दुख
कौतुक राम तिहारो॥

तो इसके लिये वे दोषी नहीं। क्योंकि सख्य भाव में अन्योन्याश्रय भक्ति होती है। उसमे प्रेम की बड़ाई भी होती है, उत्कण्ठा का उत्कर्ष भी।

विद्यापति के सख्य भाव में हम निम्नलिखित तत्त्व पाते हैं—

१—उत्कण्ठा का उत्कर्ष अर्थात प्रिय-मिलन की अत्यन्त आकुलता।

उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित पद है—

सुरपति पाये लोचन मांगों,
गरुड़ मागओं पाँखि।
नन्द नन्दन में देख आवओ
मन मनोरथ राखि॥
—विद्यापति

जायसी ने भी इसी भाव का एक दोहा लिखा है—

यह तन जारौं छारि कै
कहौं कि पवन उड़ाओ।
मकु तेहि मारग उड़ि परै
कन्त धरै जहँ पांव॥

अपने को मिटाकर भी प्रिय-मिलन की यह अभिलाषा! विद्यापति की पंक्तियाँ Alexander Selkerk की,

Oh ! Had I the wings of a dove,
How soon would I taste you again

से उँची श्रेणी की चीज हैं! क्योंकि, यहाँ उत्कण्ठा आध्यात्मिक है!

२—प्रेम की दुर्निवारता—जब प्रेम की उत्कण्ठा इतनी बढ़ जायगी तो वह दुर्निवार हो जायगा। उसे संसार में कौन रोक सकता है ?

विद्यापति कहते हैं—"प्रेमक गति दुर्वार।" और भी,

धरब जोगिनियाँ के भेस रे
करब मैं पहुँच उदेस रे।

और भी,

जाकर हृदय जतहि रतल
से धसि ततहि आय।
जइयो जतने बांधि निरोधय
नीमन नीर थिराय ?

इन पंक्तियों का भाव-साम्य कालिदास में देखिये—

कईप्सितार्थस्थिर निश्चयम्मन:
पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत् !

३—विरह और प्रेम की एकरसता—ऐसा सच्चा प्रेम, जिसमें इतनी उत्कण्ठा और दुर्वारता हो, विरह से नहीं घबड़ाता। विरह में भी स्थिर रहने की क्षमता है उसमें। क्योंकि वह पार्थिव नहीं है। शरीरान्तर से हृदयान्तर तो होता है वहाँ, जहाँ प्रेम लौकिक हो, वासनाजन्य हो। पर विद्यापति का प्रेम ऐसा नहीं। वह विरह की कसौटी पर खरा उतरता है—

सुजनक प्रेम हेम सम तूल।
दहियत कनक द्विगुण होय मूल॥
टुटियत नहिं टुट प्रेम अद्‌भूत।
जइसक बढ़ए मृनालक सूत॥

—विद्यापति।

यह अद्‌भुत, असाधारण, अलौकिक प्रेम, जो वासनारहित है विरह की आँच में तप कर स्वर्ण की तरह निकल आता है, खरा और विशुद्ध ! क्योंकि कवि के हृदय में प्रेम के सिवा और कोई भाव है ही नहीं, स्वार्थ का, वासना का अथवा अपने 'अहं' का—

प्रीति अकेली बेलि चढ़ि छावा।
दूसरी बेलि न सँचरै पावा॥

क्योंकि यहाँ पूर्ण आत्मसमर्पण है !

४—ऐसे प्रेम में उन्मत्तता और स्तब्ध किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता है ! जब 'अहं' हीं नहीं तो रोग का उपचार स्वयं कैसे किया जाय। उन्माद में अपनी हस्ती की ही सुधबुध नहीं। अब तो 'वही' मिले तो यह विरह का दारुण दुःख दूर हो—

> पुनि फेरि सोइ नयनन यदि हेरबि पाओब चेतन नाह।
> भुजगनि दलि पुनिहिं यदहि दंसे तबहि समय बिस जाह।।
>
> —विद्यापति।

५—उनके प्रेम में ढिठाई है, जो सख्यभाव में सौन्दर्य ला देती है। यह ढिठाई हम सूर में भी पाते हैं—

> आज हौं एक एक करि टरिहौं।
> कै हमहीं कै तुमहीं माधव, अपन भरोसे लरिहौं।।
> अब हौं उधरि नचन चाहत हौं तुम्हें बिरद बिनु करिहौं।।
>
> —सूरदास।

पर इस पद के कारण हम यह नहीं कहते कि सूर ने कृष्ण को आराध्य के रूप में यहाँ नहीं देखा। आखिर सख्य-भाव की भक्ति भी तो आराधना का ही एक अङ्ग है !

अतः यह कहना उचित नहीं कि "उन्हें सद्यःस्नाता अथवा वयःसन्धि के चंचल और कामोद्दीपक भावों की लड़ियाँ मात्र गूँथनी थीं।"

यदि ऐसा होता तो विद्यापति का प्रभाव युग-विशेष के साथ नष्ट हो जाता और चैतन्य महाप्रभु के समान कृष्ण के सच्चे भक्त उनके पदों का इतना आदर नहीं करते। डा० जनार्दन मिश्र लिखते हैं—"विद्यापति के प्रचार का सबसे बड़ा कारण चैतन्य महाप्रभु हुए। बंगाल में वैष्णव सम्प्रदाय के ये सबसे बड़े नेता हुए। इन पर लोगों की इतनी श्रद्धा थी कि ये विष्णु के अवतार समझे जाते थे। विद्यापति की ललित और पवित्र भावनाओं से पूर्ण पदों को गाकर ये इस प्रकार भाव में मग्न हो जाते थे कि इन्हें मूर्च्छा-सी आ जाती थी। इनके हाथों विद्यापति के पदों की ऐसी प्रतिष्ठा होने के कारण लोगों में विद्यापति के प्रति आदर का भाव बहुत बढ़ गया।"

और आज सदियों के पश्चात् भी विद्यापति अमर हैं, उनकी पदावली अमर है। आज भी मैथिला जनता इनके मधुर गीतों को गा कर रस-मग्न

हुए विना नहीं रहती। इनके कई पद लोगों की जिह्वा पर रहते हैं। निम्न-लिखित उनमें से एक है—

सरसिज बिन सर, सर बिनु सरसिज कीं सरसिज बिनु सूरे।
तन विनु यौवन, यौवन बिनु तन की यौवन पिय दूरे॥

कितना माधुर्य्य ! कितना लालित्य !! मानों हृदय-वन-प्रान्त में उमड़ती भक्ति की निर्झरिणी इन्द्रधनुषी रंगों से रंगीन हो गई है जिससे उसके फेनिल तरङ्गों से राशि-राशि सौन्दर्य्य-रश्मियाँ फूट रही हैं !!!

विद्यापति की यह ध्वनि तब तक संगीत के स्वरों में गूँजेगी जब तक भक्ति-मन्दाकिनी की लोल लहरों में कल-कल नाद होगा !

भक्ति-साहित्य का पूर्व रंग

और

भक्तिमार्गी शाखाओं का उद्भव

साहित्य और जीवन का शाश्वत सम्बन्ध है। यह भी सत्य है कि किसी युग-विशेष का साहित्य उस युग के सामाजिक जीवन, धार्मिक वातावरण और राजनीतिक परिस्थितियों की ही उपज है। साहित्य की प्रगति युग-विशेष के समाज के साथ उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा ही निर्द्धारित होती है। हिन्दी साहित्य का इतिहास भी अपवाद नहीं। सदा से, देश की धार्मिक परिस्थिति, सामाजिक संगठन और राजनीतिक व्यवस्था की प्रतिच्छाया हिन्दी-साहित्य पर पड़ती आई है। हमारे भक्तियुग का साहित्य भी परिस्थितियों का ही प्रतिफलन है।

भक्तियुग का आधार भी हम राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक तीनों क्षेत्रों में पाते हैं। भक्तिमार्गी शाखाओं के प्रादुर्भाव के पूर्व का भारत राजनीतिक रूप से निःस्वत्व एवं शक्तिहीन हो चुका था। मुसलमानों के बढ़ते हुए प्रभाव ने हिन्दुओं के राजनीतिक जीवन में ही नहीं, वरन् उनके धार्मिक और साहित्यिक जीवन में भी उथल-पुथल मचा दी। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार "वीरगाथा" काल के समाप्त होने के पहले ही साहित्य के क्षेत्र में क्रान्ति प्रारम्भ हो गई थी। मुसलमानों के बढ़ते हुए आतंक ने जनता के साथ साहित्य को भी अस्थिर कर दिया था। .....मध्यदेश में मुसलमानी तलवार का पानी राज्यों के अनेक सिंहासनों को डुबा रहा था। खिलजी वंश के अलाउद्दीन ने

सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर अधिकार जमा लिया था। देवगिरि का यादव राजा रामचन्द्र, वारंगल, होयसिल, महाराष्ट्र और कर्नाटक के राजाओं को भी उसकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। मुसलमानों की इस बढ़ती हुई ऐश्वर्य्याकांक्षा ने हिन्दुओं के अस्तित्व पर ही प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया[1]।"

बात यह नहीं थी कि हिन्दू अशक्त थे अथवा उनमें पौरुष अशेष हो चुका था। भारत उस समय भी वस्तुतः मुसलमान आक्रमणकारियों के गति-अवरोध के लिए समर्थ था। शहाबुद्दीन गोरी का समकालीन उत्तरी भारत काफी शक्ति-शाली था। क्योंकि अजमेर दिल्ली में चौहान वंश (पृथ्वीराज का वंश), काशी-कन्नौज में परिहार वंश (जयचन्द का वंश), और बंगाल-मगध में पाल और सेनराज्य अभी भी शक्तिशाली थे। गुजरात, चित्तौड़, ग्वालियर, बुन्देल-खण्ड आदि के शासक भी बहुत ही शक्तिशाली थे। मगध और बंगाल के विजेता गोरी का सेनापति खिलजी आसाम में ससैन्य मारा भी गया (१३०० ई०)। अतः यदि भारतवासी चाहते तो मुसलमान आक्रमणकारियों से यथो-चित प्रतिशोध ले सकते थे।

फिर भी हिन्दुओं के अधःपतन के कारण क्या थे? शुकदेव बिहारी मिश्र ने लिखा है कि हमारी पराजय का 'मुख्य कारण यह था कि भारत की भार-तीयता थी ही नहीं और उसमें छोटे-छोटे प्रान्त मात्र थे जो अपने ही जरा-जरा से झगड़ों में ऐसे उलझे रहते थे और अपनी काल्पनिक महत्ता के ऐसे स्वप्न देखा करते थे कि विदेशियों से देश की रक्षा करने की न तो उनमें शक्ति थी, न संगठन।"[2]

और भी, पाश्चात्य एशिया में समर-कौशल उन्नत हो गया था और उसकी उन्नति का मुख्य साधन था हयशक्ति का प्राधान्य। पर भारत इस नवीन साधन से अपने को अभी तक सम्पन्न न कर पाया था। अतः भारत की सैन्य-शक्ति की इस कमी ने भी हिन्दुओं की पराजय में योग दिया।

बात यह थी कि भारत ने युद्ध-कौशल की ओर उतना ध्यान दिया ही नहीं जितना सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उन्नति की ओर। सभ्यता और शान्ति की कमी से ये पाश्चात्य जातियाँ लड़ाकू थीं। पर भारत की सभ्यता ने

---

१ हिं. सा. का आ. इ.—डा, रा. कु. वर्मा पृ. १५६.

२ Ramdin Readership lectures 1932—33 (P. U.)

उसे कलाओं का उपासक और दार्शनिकता-प्रिय बना दिया था। बर्बरता उसमें रह ही नहीं गई। क्योंकि सभ्य जाति जिस परिमाण में आध्यात्मिक रूप से अभ्युन्नत होती है, उसी हिसाब से अधिकतर भौतिक रूप से क्षीणतर भी होती जाती है।

उस पर भी धार्मिक सम्प्रदायों के हेय और अशक्त-कारी प्रभाव ने हिन्दू-जाति को और भी दुर्बल और शान्ति-प्रिय बना दिया जिससे हम युद्ध की उपेक्षा और हिंसा से घृणा करने लगे। बुद्ध सम्बन्धी जातकमालाएँ इस दिशा में निर्देश करती हैं। बौद्धों के अहिंसावाद ने और उसके पश्चात् कुमारिल भट्ट और शङ्कराचार्य के अद्वैत और मायावाद के प्रचार ने हिन्दुओं को राजनीतिक प्रभुत्व तथा भौतिक उन्नति की ओर से और भी उदासीन बना दिया। "हम बौद्ध धर्म के कुएँ से निकले तो, परन्तु अद्वैतवाद और मायावाद की खाई में ही पहुँच गए।"

जब संसार ही मिथ्या है तो फिर आजादी और राष्ट्रीयता के विचारों की गुंजाइश ही कहाँ होती है। १००० संवत् के लगभग सन्यासियों का एक वृहत् मंडल जिसमें रामानुज, मध्व,निम्बार्क, विष्णु स्वामी, वल्लभाचार्य, चैतन्य और हितहरिवंश मुख्य थे, देश में तैयार हो गया था, जिसने लोगों को दार्शनिकता की ओर और भी प्रवृत्त किया।

इन सब का फल यह हुआ कि सभ्यता और संस्कृति के विचार से समुन्नत होते हुए भी हिन्दू शारीरिक रूप से इतने अशक्त हो गए कि जब यवन लुटेरों ने पश्चिम के द्वार पर आकर उनके अस्तित्व को ही चुनौती दी तब उसका प्रत्युत्तर देने की क्षमता उनमें न थी। वे पराजित हुए, भौतिक, राजनीतिक रूप से निस्वत्व और असहाय ! पर बात यहीं तक न रही। मुसलमानों ने केवल राज-नीतिक रूप से उन्हें अवश और शक्तिहीन नहीं किया वरन् वे तलवार की नोक पर अपने धर्म का प्रचार भी यहाँ करने लगे। हिन्दुओं की सभ्यता और संस्कृति पर भी—जिसको अपने हृदय के रक्त से उन्होंने सींच कर पुष्पित पल्लवित किया था, मुसलमानों ने कुठाराघात करना आरम्भ कर दिया। यह हिन्दुओं के लिए असह्य था, अत्यन्त असहनीय ! पर करते क्या ? भौतिक शक्ति उनके पास बच नहीं गई थी। रक्षा का कोई उपाय न मिला तो उनकी वृत्तियाँ स्वाभाविक रूप से ईश्वरोन्मुख हुईं ! डा० रामकुमार वर्मा लिखते हैं—"हिंदुओं में मुसलमानों से लोहा लेने की शक्ति नहीं थी। वे मुसलमानों को न तो पराजित कर सकते थे, न

अपने धर्म की अवहेलना ही सहन कर सकते थे। इस असहायावस्था में उनके पास ईश्वर से प्रार्थना करने के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं था। वे ईश्वरीय शक्ति और अनुकम्पा पर ही विश्वास रखने लगे।......दुष्टों को दण्ड देने का कार्य भी ईश्वर पर ही छोड़ दिया......। इस समय हिन्दू राजा और प्रजा दोनों के विचार इसी प्रकार भक्तिमय हो गए और वीरगाथाकाल की वीर-रसमयी प्रवृत्ति धीरे-धीरे शान्त और शृङ्गार-रस में परिणत होने लगी।"

चारण भी अब किसकी वीरगाथा गाते और किसे रण के लिए उत्साहित करते। अब तो भक्ति-भाव की रचनाएँ ही सान्त्वना का एकमात्र साधन थीं, क्योंकि पं०रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।"[1]

अतः हम देखते हैं कि "हिन्दू राष्ट्रीयता की चिता का भस्म ही भक्ति-मार्गियों के लिए भभूत सिद्ध हुआ" (डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री)। किन्तु ऊपर लिखे विचारों में, अधिक-से-अधिक, अंश सत्य ही है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा कुछ अन्य विद्वानों का विचार है कि यदि तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के लगभग मुसलमानों का आक्रमण भारत पर नहीं भी होता तो भी भक्ति-साहित्य की प्रवृत्तियों का विकास लगभग ज्यों-का-त्यों होता। इन विद्वानों की मान्यता है कि भक्ति-साहित्य तद्युगीन निराशामूलक राजनीतिक वातावरण का प्रतिफलन नहीं, वरन् वैदिक युग से होती आई दार्शनिक एवं धार्मिक विचारों की क्रिया-प्रतिक्रिया की परम्परा की एक कड़ी-मात्र है। आइए, हम इस दार्शनिक-धार्मिक परम्परा के प्रभाव का अवलोकन करें।

भक्तियुग का दार्शनिक आधार मुख्यतः दक्षिण में रामानुज, निम्बार्क, विष्णुस्वामी और मध्वाचार्य द्वारा प्रणीत हुआ। इसके आरम्भ का बीज वैदिक युग में ही है जिस काल के ब्राह्मण धर्म से इसका सम्बन्ध है। वैदिक काल याग-प्रधान अथवा कर्म-काण्ड प्रधान था और सूर्यादि देवता माने जाते थे। उसके पश्चात् औपनिषदिक युग आया जिसमें ज्ञानकाण्ड की प्रधानता रही। श्रुतियों और स्मृतियों के इस युग में जिज्ञासु व्यक्ति ज्ञानियों के संसर्ग से ज्ञानार्जन करते थे। (उप+नि+षद्=पास में बैठना)। सूर्यादि देवताओं का स्थान ब्रह्म की भावना ने ले लिया था। इसके पश्चात् धीरे-धीरे वास्तविक ज्ञान के स्थान

---

१. हि. सा. का इ.—पं० रा. च. शुक्ल, पृ. ६३.

पर रूढ़ियों ने घर कर लिया और ब्राह्मण धर्म पशु-हिंसा, शूद्रों पर अत्याचार आदि अनेक बुराइयों से जर्जर हो गया। इसी की प्रतिक्रिया बौद्ध धर्म के रूप में हुई। ज्ञानकाण्ड की अधिकता और कर्मकाण्ड, प्रधानतः हिंसा के प्रति घोर विरोध इसकी विशेषताएँ हैं। ब्रह्मभाव का स्थान 'शून्य' ने ले लिया। हम देखते हैं कि ब्रह्म की सत्ता धीरे-धीरे सूक्ष्मतर होती जाती है। बौद्धों के सिद्धान्त 'सर्वंक्षणिकं' 'सर्वं शून्यं' आदि हैं। बुद्ध के अनुसार "संसार और उसके सब पदार्थ अनित्य और दुःखमय हैं। सब दुःखों का मूल कारण अविद्या है।.........तृष्णा के नाश ही का नाम निर्वाण है।......बौद्ध धर्म की सब से बड़ी विशेषता 'अहिंसा परमोधर्मः' है।.....शील, समाधि और प्रजायज्ञ ही उत्कृष्ट यज्ञ हैं। बौद्ध धर्म ईश्वर के विषय में उदासीन है।......बौद्ध के त्रिरत्न—बुद्ध, संघ और धर्म माने जाते थे।"[१]

बौद्ध धर्म राजाश्रय पाकर फला-फूला पर पीछे से यह आश्रय हट जाने के कारण उसकी शीघ्र ही अवनति होने लगी और प्राचीन हिन्दू धर्म का सितारा फिर बुलन्द हुआ। बौद्धधर्म का प्रारम्भ यद्यपि सन्यास-मार्ग-प्रधान था, फिर भी इसमें आगे चल कर दो शाखाएँ—हीनयान और महायान नामक हो गईं। महायान शाखा पर हिन्दू धर्म का यथेष्ट प्रभाव पड़ा। शुष्क, निरीश्वर सन्यास मार्ग सभी नहीं अपना सकते थे। अतः बौद्ध धर्म की माहायान शाखा में भक्ति को स्थान मिला और बुद्ध उपास्यदेव बने। फिर तो २४ अतीत, २४ वर्तमान और २४ भावीं बुद्धों की कल्पना की गई और उनकी मूर्तियाँ भी बनीं। नष्ट होता हुआ बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म पर भी अमिट प्रभाव छोड़ गया। २४ अवतारों की कल्पना सम्भवतः बौद्धों के २४ बुद्धों से ली गई हो। बुद्ध भी विष्णु के एक अवतार मान लिए गये। बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म में अनेक समानताएँ हो गईं। अतः लोग बौद्ध-धर्म छोड़ कर हिन्दुत्व ग्रहण करने लगे, जहाँ सब प्रकार की स्वतन्त्रताएं थीं। डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार बौद्धधर्म के पतन के कारणों में से एक यह भी था कि "अत्यन्त प्राचीन काल से ईश्वर पर विश्वास रखती हुई आर्य जाति का चिरकाल तक अनीश्वरवाद को मानना बहुत कठिन था।"[२] पर बौद्धधर्म के अस्तित्त्व पर सब से बड़ा आघात कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य का आन्दोलन था। बौद्धों का वेदों

---

१. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—गौ. ही. ओझा पृ. ४

२. वही—पृ. ७

पर अविश्वास इन्हें खटकता था। अतः इन्होंने प्राचीन ब्राह्मण धर्म के पुनर्निर्माण का आन्दोलन किया। इनके आन्दोलन की व्यापकता का पता शंकर-दिग्विजय में कुमारिल के द्वारा शंकर को कथित निम्नलिखित श्लोक से लगता है—

श्रुत्यर्थधर्मविमुखान् सुगतान् निहन्तुं।
जातं गुहं भुवि भवंतमहं नु जाने॥

अर्थात्—वेदार्थ से विमुख बौद्धों को नष्ट करने के लिए आप गुह (कार्तिकेय) रूप से उत्पन्न हुए हैं, ऐसा मैं मानता हूँ।

शांकर अद्वैत ब्राह्मणधर्म में बौद्धधर्म की प्रतिक्रिया का मूर्त्त परिणाम है। शङ्कराचार्य को लोगों ने 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा है क्योंकि बौद्धों की ही भाँति धर्म और दर्शन दोनों में इन्होंने बौद्धिक आधार से काम लिया है। यह आवश्यक भी था, क्योंकि इन्हें बौद्धों को भी अपने मत की ओर आकर्षित करना था। अस्तु, इनके अद्वैतवाद का मूल तत्त्व हुआ—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन" और सिद्धान्त वाक्य दो हुए—'तत्त्वमसि' तथा 'अहं ब्रह्मोऽस्मि।' 'सदसद्भ्यां अनिर्वचनीयं ब्रह्म'—शङ्कर के ब्रह्म की परिभाषा थी। यह बुद्ध के ब्रह्म से मिलता-जुलता है। अतः 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहना सार्थक भी है। इन्होंने तीन सत्ताएँ मानीं—पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक जो प्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट (Kant) के Critiques of pure Reason, of Practical Reason and of Aesthetic Reason से मिलता-जुलता है। इनका दर्शन अधिक पूर्ण होने के कारण भी बौद्धधर्म पर विजय पा सका। सर साधाकृष्णन् कहते हैं—"His philsophy stands complete needing neither a before, nor after." पर वह सर्वथा पूर्ण नहीं जैसा हम आगे देखेंगे। किंतु सर राधाकृष्णन् का निम्नलिखित कथन—"It is said, not without truth that Brahminism killed Budhism by a fraternal embrace" ठीक ही है।

बौद्धधर्म पर अद्वैतवाद विजयी हुआ अवश्य, पर उसकी रूपरेखा भी जीवन में घुलने-मिलने के कारण अपरिवर्तित नहीं रह सकी। दो-तीन शताब्दियों के पश्चात शङ्कर के दार्शनिक सिद्धान्त का रूप व्यावहारिक हो गया। फलस्वरूप उसमें भक्ति का समावेश हुआ जिसकी भिन्न-भिन्न शाखाओं के प्रवर्त्तक आचार्य चतुष्टय—रामानुज (१२ वीं सदी), निम्बार्क (१२वीं सदी), विष्णुस्वामी (१३वीं सदी) और मध्व (१४ वीं सदी)—हुए। 'हरिऔध'जी

कहते हैं—"ज्ञानाश्रयी सिद्धान्त जब व्यावहारिक बनते हैं तो उनको भक्ति को साथ लेना पड़ता है, क्योंकि संसार आधिकतर क्रियात्मक जीवन का प्रेमिक है[1] ।" अतः अद्वैतवाद भी भक्ति के समावेश से परिवर्त्तित हो गया जिसके विभिन्न रूपों का प्रचार इन आचार्यों ने किया। रामानुज ने विशिष्टाद्वैत, मध्वाचार्य ने द्वैत, विष्णुस्वामी ने शुद्धाद्वैत और निम्बार्क ने द्वैताद्वैत की स्थापना की। इनमें भेद तो बहुत हैं पर कुछ साम्य भी हैं। डा० रामकुमार वर्मा[2] के अनुसार साम्य ये हैं—

१—अद्वैतवाद से ब्रह्म का निरूपण किसी-न-किसी रूप में अवश्य भिन्न है।

२—गुरु ब्रह्म का प्रतिनिधि और अंश है।

३—गोलोक अथवा बैकुण्ठ की प्राप्ति ही भक्ति का परम उद्देश्य है।

४—भक्ति के लिए जाति का बन्धन नहीं होना चाहिए। जाति-बन्धन तो बौद्धों ने ही विच्छिन्न कर दिया था। शंकर ने भी जाति-विचार और वर्ण-व्यवस्था में उदार भावना ही रखी। अतः यह मौलिकता इन आचार्यों की न थी। हाँ, ये ब्राह्मणों को शूद्रों से ऊँचा अवश्य समझते थे, यद्यपि शूद्रों को भी भक्ति का अधिकारी मानते थे।

रामानुज का जन्म सं० १०७४ में हुआ। इन्होंने शंकर के मायावाद या अद्वैतवाद का खण्डन कर जीव की स्थिति में सत्यता की भावना उपस्थित की। ईश्वर के अलावा आत्मा की सत्ता को भी माना, जो शंकर नहीं मानते थे। ये 'पदार्थ त्रितयम्' की स्थिति के विश्वासी थे, जिसमें परब्रह्म (विष्णु) चित् (जीव) और अचित् (दृश्यम्) सम्मिलित हैं। ये तीनों अविनाशी हैं। "यद्यपि ब्रह्म और चित् एक ही तत्व से निर्मित हैं (अद्वैत) तथापि उनका अन्तर माया-जनित नहीं है।" इसी विशेषता के कारण उनका सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत कहा जाता है। ब्रह्म की अभिव्यक्ति के पाँच प्रकार हैं—मूर्त्ति, अंशावतार, पूर्णावतार, सूक्ष्म और अन्तर्यामिन्। साधक एक बार ही अन्तिम सोपान का अधिकारी नहीं। अतः प्रथम मूर्त्तिपूजा का ही आश्रय श्रेयस्कर है। फिर अन्य अवस्थाओं को क्रमशः पार करते हुए साधक हृदय में अन्तर्यामिन् की अनुभूति प्राप्त करता है। वैकुण्ठ या साकेत का यह अभिज्ञान सम्मिलन विशिष्टाद्वैत की विशेषता है।

मध्व का जन्म सं० १३१४ है। इनके अनुसार विष्णु ही एक अविनाशी

---

१ हिंदी भाषा का आरम्भ और विकास, पृ. १८३

२ हिं० सा० का आ० इ० पृ० १८२

ब्रह्म हैं। ब्रह्म से ही जीव उत्पन्न है। दोनों में स्वामी सेवक, आराध्य-आराधक का सम्बन्ध है। दोनों एक नहीं। कृष्ण ही ब्रह्म हैं और उनकी भक्ति ही ब्रह्म के पाने का एकमात्र साधन है।

विष्णुस्वामी ने अद्वैतवाद को माया से रहित कर शुद्धाद्वैत की स्थापना की। कृष्ण को आराध्य माना पर साथ ही साथ राधा को भी प्रधानता दी।

निम्बार्क बारहवीं सदी में आविर्भूत हुए। ये राधाकृष्ण के उपासक थे। इनके अनुसार ब्रह्म से भिन्न होते हुए भी जीव उसमें अपना अस्तित्व खो देता है। यह भक्ति की साधना द्वारा ही सम्भव है। निम्बार्क स्मार्त नहीं थे। अतः राधाकृष्ण के सिवा दूसरे देवताओं को नहीं मानते थे।

इन चार सिद्धान्तों के फलस्वरूप उत्तर भारत में चार सम्प्रदायों की सृष्टि १५ वीं सदी तक हुई— [आधार]

१—श्री सम्प्रदाय—रामानुज और रामानन्द।

२—ब्रह्म सम्प्रदाय—माधव वैष्णव।

३ – रुद्र सम्प्रदाय—विष्णुस्वामी।

४ – सनकादि सम्प्रदाय—निम्बार्क।

दक्षिण से चली हुई धार्मिकता की यह लहर जब उत्तर भारत में आई तो वहाँ इसका यथेष्ट विकास हुआ, क्योंकि राजनीतिक अधःपतन और धार्मिक अवलम्ब की प्यास के कारण उत्तर भारत इसके लिए उपयुक्त क्षेत्र हो चुका था। यहाँ वैष्णव धर्म का यह तरुवर अभिनव शाखाओं में विकसित और पल्लवित-पुष्पित हुआ।

रामानुज की परम्परा में रामानन्द काशी में १४ वीं सदी में हुए जिन्होंने रामानुज के श्री सम्प्रदाय को अत्यन्त व्यापक और लोकप्रिय बना उसकी श्री-वृद्धि की। इन्होंने विष्णु अथवा नारायण के स्थान में विष्णु के अवतार राम की भक्ति और उपासना को महत्त्व-दिया। भक्ति के क्षेत्र में जाति-भेद का बहिष्कार और संस्कृत के स्थान में भाषा में भक्ति के प्रचार की नवीनता उनके मत की लोकप्रियता का कारण बनी। विष्णु, इनके अनुसार, 'धर्म की ग्लानि' दूर करने को अवतार लेते हैं और दुष्टों का विनाश एवं साधुओं का परित्राण करते हैं। उसी भक्ति-परम्परा में १६ वीं सदी में कबीर और १७ वीं में तुलसी हुए जिन्होंने अपनी वाणी में पावन धार्मिकता को मुखरित कर तत्कालीन समाज का अतिशय कल्याण किया। पर कबीर ने रामानन्द के 'राम' को दशरथ-पुत्र राम के रूप में

न लेकर घट-घट व्यापी परमात्म-सत्ता के रूप में ही लिया। यह उनकी व्यक्तिगत विशेषता थी। सम्भव है, यह मुसलमानी प्रभाव के कारण हो।

निम्वार्क की परम्परा में पूर्व (बंगाल) में चैतन्य और पश्चिम में वल्लभ आते हैं। चैतन्य १६ वीं सदी में हुए। यद्यपि ये मध्व के ब्रह्म सम्प्रदाय में दीक्षित हुए तथापि दार्शनिक दृष्टिकोण से इन्होंने निम्वार्क के द्वैताद्वैत सिद्धान्त को ही महत्त्व दिया। गान और नृत्य के साथ कीर्तन को भी इन्होंने अपने सम्प्रदाय में स्थान दिया। राधा और कृष्ण की भक्ति पाँच प्रकार से बतलाई —

१—शान्ति—ब्रह्म पर मनन

२—दास्य—सेवा

३—सख्य—मैत्री

४—वात्सल्य—स्नेह

५—माधुर्य्य—दाम्पत्य

पूर्व में निम्बार्क की आकर्षक भक्ति-पद्धति से जयदेव प्रभावित हुए जिनके बाद विद्यापति का स्थान आता है।

वल्लभ निम्वार्क और विष्णुस्वामी से प्रभावित हुए। कृष्ण को ब्रह्म और राधा को उनकी स्त्री और उनके क्रीड़ास्थल को वैकुण्ठ माना। दार्शनिक दृष्टि से इनका सिद्धान्त शुद्धाद्वैत का है। इनकी दृष्टि में भक्ति का स्थान ज्ञान से उच्च है, वरन् सर्वोच्च है। क्योंकि भक्ति ही से ब्रह्म की अनुभूति सम्भव है। यह भक्ति केवल कृष्ण के अनुग्रह से ही प्राप्य है। इसी अनुग्रह का नाम 'पुष्टि' है। यह पुष्टि चार प्रकार की है —

प्रवाह पुष्टि, मर्यादा पुष्टि, पुष्टि पुष्टि, शुद्ध पुष्टि। ब्रह्म सत्, चित् और आनन्दमय है। सत् से प्रकृति, सत्चित् से जीव और सत्-चित्-आनन्द से परमात्मा का अस्तित्व व्यक्त होता है। वल्लभ और उनके पुत्र विट्ठल के आठ प्रधान शिष्य थे, जो अष्ट छाप कहलाए। इनमें सूरदास और नन्ददास प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार हिन्दी-कविता की भक्तिमार्गी शाखाओं के उद्भव का सम्वन्ध दक्षिण से आई हुई धार्मिक भावना के विशिष्ट अंगों से है। पर इन शाखाओं में से कुछ पर, जैसे कबीर आदि की शाखा पर, अन्य प्रभाव भी थे। ये दूसरे प्रभाव उत्तर-पूर्व के धार्मिक विकास के और इस्लाम की क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप थे।

इधर उत्तर-पूर्व में नालन्दा और विक्रमशिला (भागलपुर के पास) में बौद्ध धर्म का वज्रयान मत था, जो महायान का ही एक भ्रष्ट रूप था।

इसमें हठयोग आदि का प्रचार था। वज्रयान के सिद्धान्त बिहारी भाषा के साहित्य में व्यक्त हुए। यह भाषा मागधी का ही अपभ्रंश रूप थी। इसका प्रथम कवि सरहपा है।

इसी वज्रयान का उत्तरवर्ती रूप नाथपंथ है, जिसका समय बारहवीं से चौदहवीं सदी तक और प्रवर्त्तक मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ हैं। इसमें भी हठयोग की ही प्रधानता थी। इसका पूर्वरूप पतंजलि के योगदर्पण में मिलता है।

इसी का तीसरा रूप संत साहित्य में प्रस्फुटित हुआ, जिसके प्रवर्त्तक हुए कबीर। "अतः संत-साहित्य का आदि इन्हीं सिद्धों को, मध्य नाथ-पंथियों को, और पूर्ण विकास कबीर से प्रारम्भ होने वाली संत-परम्परा (नानक, दादू, मलूक, सुन्दरदास आदि) को मानना चाहिए[1]।" नाथ-पंथ दार्शनिकता की दृष्टि से तो शैवमत के अन्तर्गत है और व्यावहारिक दृष्टि से पतञ्जलि के हठयोग से सम्बन्ध रखता है[2]।" एक तरह से वज्रयान का शून्यवाद ही शैवमत-प्रभावित नाथ-पन्थ के अन्तर्गत अलख, निरंजन और हठ-योग, तथा संत साहित्य (निर्गुण-पन्थ) में सहस्रदल कमल का शून्य और हठयोग सम्बन्धी, इडा, पिंगला, कुण्डलिनी और ब्रह्मरंध्र हुआ।

मध्यकाल के हिन्दी साहित्य पर सामाजिक अवस्था का एक और प्रभाव था—मुसलमनों का। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि भक्ति-साहित्य का विकास मुसलमानी प्रभाव के बिना ही, स्वतन्त्र रूप में हुआ। किन्तु—मध्ययुग के भारतीय समाज के हिन्दू और मुसलमान—दोनों आवश्यक अंग बन चुके थे। दोनों को साथ-साथ रहना था। यह एक समस्या हो गई। इन दो जातियों के सम्पर्क और संघर्ष ने दो प्रतिक्रियाओं को जन्म दिया, जिसे हम अनुरोधिनी और प्रतिरोधिनी कह सकते हैं। कुछ लोगों ने समझा कि दोनों को एक होकर रहने में ही कल्याण है और इस हेतु दोनों धर्मों की एकता भाँति-भाँति से प्रतिपादित करने लगे। वे बाह्य भेदों को तुच्छ और उपेक्षा के योग्य बतलाते थे और आन्तरिक अभेद ही को मान्य कहते थे। इनमें कबीर और जायसी आदि हैं। जायसी की पद्मावत हिन्दू वातावरण और चरित्रों की

---

१ हि० सा० का आ० इ० — डा० रा० कु० वर्मा।

२ वही—पृ० १३५.

आड़ में सूफी सिद्धान्तों के प्रतिपादन का प्रयास भी कही गयी है। पर उसमें अद्वैतवाद का प्रभाव मानना भी अयुक्तिसंगत नहीं।

प्रतिरोधिनी प्रतिक्रियावालों में तुलसी और सूर आदि हैं, जिनके विचार से हिन्दू और मुसलमान दो थे और हिन्दू-संस्कृति को मुसलमानी प्रभाव से अक्षुण्ण रखना सर्वथा आवश्यक था।

निष्कर्ष यह कि उस समय हिन्दी में काव्यगत भक्तिशाखाओं के निम्न-लिखित रूप हुए—
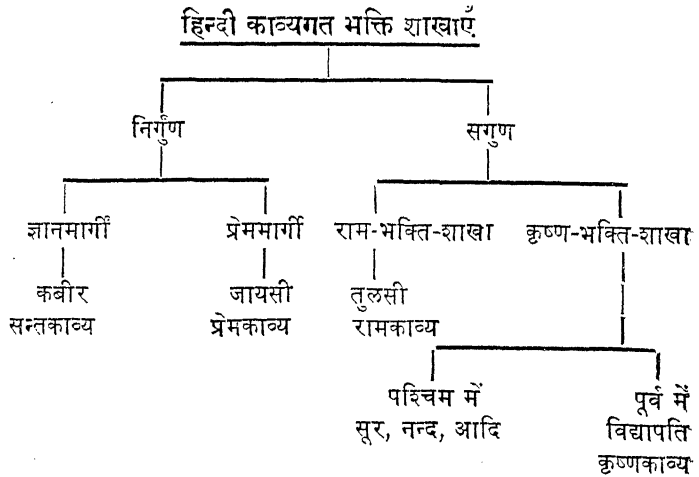
वैष्णव-भक्ति का विकास और हिंदी के भक्त-कवि

मध्यकालीन हिंदी-साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है उसमें भक्ति का स्वर जिसके कारण वह वेदों से लेकर आजतक की भारतीय साहित्य-परंपरा के बीच ही नहीं, विश्व-साहित्य के बीच भी विशिष्ट है। प्रधानतया सूर, तुलसी और कबीर की वाणी में साकार होकर जिस भक्ति ने भारतीय सांस्कृतिक वातावरण को चिरकाल के लिए मांगलिक आनंदोन्मेष से तरंगित कर दिया, उसके मूल आधार, आरंभ और विकास का किंचित् दिग्दर्शन मनोरंजक होगा। हिंदी-काव्य में इस भक्ति-भावना के प्रमुख आलंबन हुए भगवान् विष्णु के अवतार—राम और कृष्ण। कबीर ने भी निर्गुण अद्वैत ब्रह्म के बोध के लिए 'राम' शब्द को तो लिया ही है।

विष्णु-भावना—वेदों में विष्णु और उनके अवतारों की बहुत चर्चा मिलती है। ऋग्वेद में विष्णु के वैभव का वर्णन आया है[1]। इस सिलसिले में विष्णु के वामनावतार या त्रिविक्रमावतार का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पांसुरे॥

(वामन अवतार धारण कर विष्णु ने परिक्रमा की और तीन प्रकार से अपने पद रखे। उनके धूलिधूसरित पैरों से जगत् छिप गया।)

---

१. ऋग्वेद, प्रथम मंडल, २५ वाँ सूक्त, १६—२१ वाँ मंत्र।

ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १५४ वें सूक्त के प्रथम मंत्र में भी वामनावतार की चर्चा है।

'विष्णु' का व्युत्पत्तिगत अर्थ हुआ व्याप्त होनेवाला। अतः विष्णु व्याप्त होनेवाले सौर-शक्ति के रूप में माने गए। विष्णु के तीन पग या तो अग्नि, विद्युत् और सूर्य के प्रतीक हैं अथवा सूर्य के आकाशमार्ग की तीन स्थितियाँ—उदय, उत्कर्ष और अस्त—हैं।[1] वेदों में विष्णु को इंद्र का सहयोगी और सोम से उत्पन्न कहा गया है, अतः उनका महत्त्व गिर गया है।

शतपथ-ब्राह्मण में भी विष्णु वामनरूप में चित्रित हुए। वे यज्ञरूप होकर असुर से सारी पृथ्वी प्राप्त कर लेते हैं—

ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्य ईयुः।

ऐतरेय ब्राह्मण (६–१५) में भी देवताओं के लिए विष्णु के पथ्वी प्राप्त करने की चर्चा है। यहाँ वे सबसे उच्च देवता माने गए—

विष्णुः परमम्।

यास्क के निरुक्त में तीन देवता आए हैं—अग्नि, इंद्र और सूर्य।। विष्णु इंद्र के साथ पूजित होते हैं।

मनु ने विष्णु में अन्य देवताओं से अधिक देवत्व का आरोप नहीं किया। उन्होंने ब्रह्म की संज्ञा 'नारायण' दी है, विष्णु नहीं।

रामायण में भी विष्णु का महत्त्व नहीं। महाभारत में त्रिदेवों के बीच विष्णु का मध्यस्थान हो जाता है। विष्णु और जल दोनों व्यापक हैं। अतः विष्णु जल के देवता अर्थात् नारायण कहलाए (नाराः = जल; नारायण जल के निवासी)।

पुराणों में विष्णु-भावना का विशेष विकास हुआ। विष्णुपुराण, ब्रह्मवैवर्त्त पुराण और श्रीमद्भागवतपुराण में विष्णु को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त हुआ।[2] वे संरक्षक हैं; वे सहस्रनाम हैं, जिनके नामों का भजन भक्ति का प्रधान अंग है; उनकी स्त्री लक्ष्मी, स्थान वैकुंठ और वाहन गरुड़ है। वे सुंदर, कोमल,

---

१. Materials for the study of The Early History of The Vaishnava Sect—Hemchandra Ray Chaudhury, M. A. Ph. D.—Page 11-12.

२. सर्वशक्तिमयो विष्णुः।

श्यामवर्ण, चतुर्भुज हैं; हाथों में पांचजन्य (शंख), सुदर्शन (चक्र), कौमोदकी (गदा) और पद्म (कमल) हैं; वक्ष पर कौस्तुभ मणि और बालों का चक्र-समूह ---श्रीवत्स---है; बाहु पर स्यमंतक मणि है; कभी लक्ष्मी के साथ कमल पर, कभी सर्प-शय्या पर, कभी गरुड़ पर आसीन दिखाई देते हैं। त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) के परे, परब्रह्म के प्रतीक हैं।

वैष्णव मत का उद्भव ईसा के लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व हो गया था। इसी का परिवर्द्धित रूप पांचरात्र या भागवतधर्म है। ईसा के कुछ र्ष बाद कृष्ण-भावना से इसका संबंध हुआ।

वैष्णवमत के सिद्धांत-ग्रंथ हैं—पांचरात्रतंत्र, वैखानस-आगम तथा श्रीमद् भागवत। तंत्र या अगम वे ग्रंथ हैं जिनमें यंत्र-मंत्रादि के साथ विशिष्ट धार्मिक साधना का उपदेश दिया जाता है। तंत्र तीन प्रकार के हैं (१) वैष्णवागम, पांचरात्र या भागवत, (२) शैवागम, (३) शाक्तागम। वैष्णवमत का संबंध प्रथम से है। पांचरात्र-तंत्र के अनुसार परब्रह्म अद्वितीय, दुःख-रहित, निःसीम सुखानुभवरूप, अनादि, अनंत है। नारायण निर्गुण होकर भी सगुण हैं। उनके गुण हैं ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य तथा तेज। उनकी शक्ति लक्ष्मी है, जिस के दो रूप हैं—क्रियाशक्ति और भूतशक्ति। जगत् के मंगल के लिए भगवान् अपने-ही-आप चार रूपों की सृष्टि करते हैं—व्यूह, विभव, अर्चावतार तथा अंतर्यामी अवतार। वैखानस-आगम का विषय क्रिया तथा चर्या है। मंदिर के विभिन्न अंगों का निर्माण, मूर्त्ति-रचना, राम-कृष्णादि की मूर्त्तियों की विशेषता तथा उनकी प्रतिष्ठा, अर्चना, बलि आदि का सांगोपांग विवेचन इनमें हुआ है। श्रीमद्भागवत में कृष्णलीला के साथ भक्ति का महत्त्व-प्रतिपादन प्रधान रूप से हुआ है।

भक्ति-तत्त्व—अब भक्ति के स्वरूप-विकास पर विचार करें। आदिम काल में आर्यजाति ने प्राकृतिक शक्तियों को देवरूप में ग्रहण किया था। भय, लोभ और कृतज्ञता की प्रेरणा से जीवन की रक्षा और निर्वाह करनेवाली प्राकृतिक शक्तियों की (जैसे सूर्य, अग्नि, वायु, इंद्र, पृथ्वी आदि की) पूजा की जाती थी। यह द्रव्ययज्ञ सामान्यरूप से संहिताओं के युग में प्रचलित था। फिर भी कुछ विशिष्ट चिंतनशील एवं भावुक व्यक्तियों के विचार-मंथन के फलस्वरूप धीरे-धीरे सभी देवताओं के एकत्व की भावना प्रतिष्ठित हुई जो उपनिषत्काल में पूर्णता को पहुँची। इस सर्ववादात्मक भावना की प्रतिष्ठा बुद्धि के धरातल पर तो हुई ही, साथ ही प्राकृतिक शक्तियों के संबंध में जो सौंदर्य और शुद्ध

अनुराग की भावना संहिता-काल में ही वर्तमान थी, उसका भी क्रमशः विकास हुआ। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में ही ईश्वर की भावना पुरुषरूप में मिलती है—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥२॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥
तस्माद्विराडजायत विराजो अधिपूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथोपुरः ॥५॥[1]

(जो कुछ हुआ है या होगा, सब पुरुष ही है। वह देवत्व का स्वामी है। इस पुरुष का एक पाद ही ब्रह्मांड है, अविनाशी तीन पाद तो दिव्यलोक में हैं। उससे विराट् उत्पन्न हुआ और उससे जीवरूप पुरुष। वह देव-मनुष्यादि रूप हुआ, भूमि बनाई तथा जीवों के शरीर बनाए।)

शतपथ-ब्राह्मण में 'सहृदयता और भावुकता का विशेष आभास है। इसमें 'पुरुष नारायण' द्वारा पाँचरात्र यज्ञ की विधि चलाने की चर्चा है। सगुण परमेश्वर का नारायणरूप ब्राह्मणकाल में ही प्रसिद्ध हो गया था।

उपनिषत्काल में ज्ञानकांड के अंतर्गत दो मार्ग हुए। एक कर्म को बिलकुल छोड़कर चला (बृहदारण्यक, कठ)। दूसरा कर्म को लेकर चला (ईशावास्यादि)। इसी कर्मपरक ज्ञान-मार्ग से आगे चलकर भक्ति का विकास हुआ। उपनिषत्काल में जहाँ एक ओर विभिन्न देवताओं के एकत्व की भावना पूर्णता को पहुँचाई गई, वहाँ दूसरी ओर उपासना-पद्धति में भी परिष्कार हुआ। भय, लोभ या कृतज्ञता से प्रेरित द्रव्ययज्ञ (जिसमें अपने सुख की कामना ही प्रमुख थी) के स्थान पर उपस्थित के स्वरूपबोध या दर्शन को महत्त्व मिला। इसी ज्ञानयज्ञ के साथ रागवृत्ति का मेल हुआ और आगे चलकर रागवृत्ति को प्रधानता देने से भक्तिमार्ग का जन्म हुआ। गीता में निष्काम कर्म तथा कर्म-ज्ञान-उपासना के समन्वय पर जोर देकर चित्तवृत्ति को स्वार्थ-प्रेरित पूजा की ओर से हटाकर आराध्य के प्रति ज्ञानपूर्वक निष्काम भक्ति की ओर लगाने का प्रयास किया गया।

भक्तिमार्ग के प्रवर्त्तन की परम्परा का उल्लेख महाभारत के शांतिपर्व के अंतर्गत नारायणीयोपाख्यान में मिलता है जिसमें यह बतलाया गया है कि

---

१. ऋग्वेद, पुरुषसूक्त।

वासुदेव की उपासना और भागवत धर्म लोक में कैसे चले। वर्तमान कल्प में इस धर्म का रहस्य विवस्वान् (सूर्य) ने मनु को बताया, और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को। गीता के चौथे अध्याय में भी इस परम्परा का उल्लेख है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥[1]

कालांतर में यह योग नष्ट हो गया और फिर भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहकर इसका उद्धार किया।

श्रीमद्भगवद्गीता भक्तिमार्ग के तात्त्विक निरूपण का प्राचीनतम प्रामाणिक ग्रंथ है। उसमें अवतार का उद्देश्य इस प्रकार बतलाया गया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म-संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे॥[2]

गीता के उपरिलिखित श्लोकों से पता चलता है कि भागवतधर्म लोककल्याणपक्ष को लेकर चला। गीता में निष्काम कर्म पर जोर भी संभवतः इसीलिए दिया गया था जिसमें व्यक्ति अपने हित के लिए नहीं, लोकहित की प्रेरणा से कर्म करे। अतएव भगवान् भी लोक की रक्षा, पालन और रंजन के आदर्श के प्रतीकरूप में शरीर धारण करने का आश्वासन देते हैं।

'लोक-कल्याण-पक्ष को लेकर चलने के कारण इस मार्ग में उपासना के लिए ब्रह्म का वह सगुण रूप लिया गया जिसकी अभिव्यक्ति रक्षा, पालन और रंजन करनेवाले के रूप में होती है। अतः उपास्य नारायण या वासुदेव हुए[3]।' उपास्य के समान ही उपासक को भी रक्षा और पालन में तत्पर होना चाहिए। अतः अहिंसा का भागवतधर्म में महत्त्वपूर्ण स्थान हुआ। भगवान् के सगुण, व्यक्त और ज्ञेय रूप के अलावा गीता में निर्गुण, अव्यक्त और अज्ञेय पक्ष की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया गया है। और, भगवान् की अनंत दीप्ति, सौंदर्य, माधुर्य आदि के साथ उनकी शक्ति, ऐश्वर्य, सर्वज्ञता आदि को भी सामने

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता—४।१
२. श्रीमद्भगवद्गीता ४।७।८
३. सूरदास—पं० रामचंद्र शुक्ल, पृ० २१

लाकर उनके स्वरूप की ओर मन को आकर्षित करने का उपक्रम किया गया है। भक्ति या प्रेम को अहेतुक, एकांत और अनन्य भी कहा गया है।

गीता के अर्जुन-वासुदेव नर-नारायण के प्रतीक-से प्रतीत होते हैं। पांचरात्र या नारायणी धर्म के इस पक्ष का प्रवर्त्तन सत्वतों (यादव क्षत्रियों) के बीच हुआ। अतः इसे सात्वतधर्म भी कहते हैं।

श्रीमद्भागवतपुराण के समय तक धीरे-धीरे कृष्णभक्ति-मार्ग में लोकधर्म अथवा लोक-कल्याण के लिए निरन्तर कर्म करते रहने की भावना हटती गई और भगवान् के लोकरक्षक स्वरूप की जगह अत्यन्त सघन प्रेम के आलंबन-रूप को प्रधानता मिली। श्रीमद्भागवत प्रेम-लक्षणा भक्ति का प्रधान आधार-ग्रन्थ है जिसमें भगवान् की माधुर्य-विभूति को ऐश्वर्य-शक्ति-शील की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व मिला। श्रीमद्भागवतपुराण में भक्ति के नौ प्रकार बताए गए हैं—

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पाद-सेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

योग से भक्ति और सेवा को अलग ही नहीं, विशेष शांतिप्रद भी कहा गया है—

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथाऽऽत्माऽद्धा न शाम्यति॥

भागवत में १२ स्कंध और १८००० श्लोक हैं। दशम स्कंध में वह कृष्ण-कथा है जिसने सूर को अनप्राणित किया।

भक्ति के सिद्धांतपक्ष का प्रतिपादन गीता और भागवत के अतिरिक्त शांडिल्यसूत्र, नारदसूत्र, नारद-पांचरात्र आदि में भी हुआ है।

शांडिल्यसूत्र में भक्ति का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

सा परानुरक्तिरीश्वरे।

(निर्हेतुक या निष्काम अनुरक्ति ही परानुरक्ति कही जा सकती है। ईश्वर में ऐसे ही अनुराग का नाम भक्ति है।)

आधारभूत दर्शन—वैष्णव भक्ति के आधारभूत दार्शनिक तत्त्व भी परंपरागत विकास के फल हैं।

आरंभिक वैदिक काल में प्राकृतिक शक्तियों को देवरूप में स्वीकार किया गया था, और भय, लोभ या कृतज्ञता से प्रेरित होकर भारतीय आर्यगण उनकी तुष्टि के उद्देश्य से यज्ञ करते थे—यह कहा जा चुका है। कुछ विशिष्ट

जन चिंतन और भावना का सहारा लेकर उपास्य के स्वरूप-निर्णय में भी प्रयत्नशील रहा करते थे, और उनके विचारों का परिचय उपनिषदों में मिलता है। उदाहरण के लिए ब्रह्म के सर्वव्यापकत्व के सम्बन्ध में यह तात्त्विक कथन देखिए—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥[1]

ब्राह्मण-ग्रन्थों में विधिनिषेधात्मक कर्मकांड का विधान है, उपनिषद्-ग्रंथों में तत्त्व-चिंतन का प्राधान्य। अतएव, दार्शनिक तत्त्व-चिंतन के मूल उत्स उपनिषदों को ही कहा जा सकता है। दर्शन का शाब्दिक अर्थ है, जिसके द्वारा देखा जाए (दृश्यते अनेन इति दर्शनम्)—जिसके द्वारा वस्तु का तात्त्विक स्वरूप-ज्ञान हो। वैष्णव भक्ति का आधार वेदांत दर्शन है। 'वेदांत' का शाब्दिक अर्थ है वेदों का अन्त। वेदों के अन्तिम भाग उपनिषद् हैं। वेदांत उन्हीं की शिक्षाओं की व्याख्या है। ब्राह्मणों के बाद आने के कारण वेदांत को उत्तरमीमांसा भी कहते हैं।

बादरायण-कृत वेदांतसूत्रों का रचनाकाल विक्रम-संवत्-पूर्व १५० के लगभग माना जा सकता है।[2] बादरायण ने उपनिषदों के परस्पर विरोधी दीखनेवाले विचारों में सामंजस्य और एकसूत्रता की स्थापना की। आगे चलकर शंकर, रामानुज आदि ने बादरायण के सूत्रों की व्याख्या अपने-अपने ढंग से कर वेदांत के अंतर्गत अनेक सम्प्रदायों को जन्म दिया। अद्वैतवाद के प्रवर्त्तक शंकर का समय ८४५-८७७ संवत् समझा जाता है[3]। अद्वैतवाद के अनुसार आत्मा स्वयं-सिद्ध, ज्ञानरूप, अद्वैत और ब्रह्म से अभिन्न है। अद्वैत ब्रह्म से नाना नाम-रूपात्मक जगत् की उत्पत्ति का कारण माया है, जो परमात्मा की बीज-शक्ति है—

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते।[4]

---

१. मुंडकोपनिषद्—मुंडक २। खंड २। ११
२. भारतीय विचारधारा—मधुकर, पृ० ११३
३. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ० ४०६
४. विवेकचूड़ामणि, श्लोक ११०

वस्तुतः ब्रह्म, जीव और जगत् में कोई तात्त्विक भेद नहीं। शांकर अद्वैतवाद सर्वथा बौद्धिक होने के कारण (उसमें स्थूल उपासना के लिए अवकाश न होने के कारण) केवल विशिष्ट चिंतन-समर्थ व्यक्तियों को ही संतुष्ट कर सका; लोकधर्म की तरह व्यापक लोकप्रियता उसे न मिल सकी। फलतः रामानुज, मध्व, निंबार्क और विष्णु स्वामी—दक्षिण के इन चार आचार्यों द्वारा उसका संशोधन हुआ तथा वैष्णव दर्शन का सूत्रपात हुआ।

श्री-संप्रदाय के प्रवर्तक रामानुज का सिद्धांत विशिष्टाद्वैतवाद, ब्रह्म-संप्रदाय के आचार्य (आनंद-तीर्थ) मध्व का सिद्धांत द्वैतवाद, रुद्र-संप्रदाय के आचार्य विष्णु स्वामी तथा उनके अनुयायी वल्लभाचार्य का सिद्धांत शुद्धाद्वैतवाद और सनक-संप्रदाय के आचार्य निंबार्क का सिद्धांत द्वैताद्वैतवाद कहलाता है। वैष्णव पुराणों में रामानुज ने विष्णुपुराण को तथा वल्लभ और चैतन्य ने श्रीमद्भागवत को विशेष रूप से अपनाया है। चैतन्य-सम्प्रदाय माध्व-मत की एक शाखा कहा जा सकता है, किंतु दार्शनिक दृष्टि से उसने द्वैतवाद से पृथक् अचिंत्य भेदाभेद-सिद्धांत को अपनाया है।

विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत और द्वैताद्वैत—ये चारों सिद्धांत कुछ अंशों में आधारभूत अद्वैत से मिलते हैं, कुछ अंशों में नहीं; कुछ अंशों में आपस में समानताएँ रखते हैं, कुछ अंशों में नहीं। किन्तु एक बात में सभी समान हैं और अद्वैतवाद से भिन्न। वह यह कि ईश्वर निर्गुण भी है और साथ ही सगुण भी। सगुण रूप में ईश्वर अवतार धारण करता है और भक्ति तथा प्रेम का आलंबन बनता है। इन चार सिद्धांतों के प्रतिपादक आचार्यों ने सर्वसाधारण के लिए भक्ति-प्रवण उपासना का मार्ग खोल, वेदांत और वैष्णव-मत का मेल करा तथा दर्शन और धर्म का परस्पर सामंजस्य घटित कर लोक-जीवन और लोकाचार के स्तर का उन्नयन किया और साथ ही देश के मध्यकालीन उदास वातावरण में आनन्द, उमंग, आशा और उत्साह की लहरें भर दीं।

वैष्णव आचार्य और कवि—तामिल प्रांत (दक्षिण भारत) के वैष्णव संतों को 'आलवार' कहा गया है। 'आलवार' शब्द तामिल भाषा का है जिसका अर्थ है आध्यात्मिक ज्ञान-समुद्र में गहरा गोता लगानेवाला व्यक्ति। इन आलवार संतों में कई नीच जाति के भी थे, किंतु अपनी भक्ति की निर्मलता से भगवान् के प्रिय बन गए थे। ये आलवार संख्या में १२ माने जाते हैं। इनका आविर्भाव-काल सातवीं से नवीं सदी के बीच माना जाता है। इन्हीं आलवारों की परम्परा में रामानुज हुए। दसवीं सदी तथा बाद में जिन

संस्कृतज्ञ पंडितों ने वैष्णवधर्म को दार्शनिक आधार से समन्वित कर लोक में प्रचारित किया, उन्हें आचार्य कहा जाता है। रामानुज भी आचार्य थे। उनके पहले नाथ मुनि और यामुनाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद के लिए मार्ग प्रशस्त किया था। रामानुज का काल १०३७–११३७ ई० है। इन्होंने शांकर मायावाद या अद्वैतवाद का खंडन कर जीव की स्थिति में सत्यता की भावना उत्पन्न की। ये पदार्थत्रय में विश्वास करते थे—परब्रह्म (विष्णु), चित् (जीव) और अचित् (जड़ या दृश्य)। तीनों अविनाशी हैं; केवल परब्रह्म स्वतंत्र है, शेष दो परब्रह्म से निर्मित और उसी पर निर्भर हैं; प्रलय में भी तीनों में अभिन्नता नहीं होती। इनके अनुसार ब्रह्म की अभिव्यक्ति पाँच प्रकार से—मूर्त्ति, अंशावतार, पूर्णावतार, सूक्ष्म और अंतर्यामी के रूप में होती है। साधक को मूर्त्ति से आरंभ कर क्रमशः अंतर्यामी की प्राप्ति होती है और वह वैकुण्ठ या साकेत को प्राप्त कर परब्रह्म से मिलकर अनन्त आनन्द का उपभोग करता है।

रामानुज की शिष्य-परम्परा में रामानन्द हुए। द्रविड़ देश में उत्पन्न भक्ति को उत्तर भारत में लाने का श्रेय इन्हीं को दिया जाता है—

भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने, सप्त दीप नवखंड॥

रामानन्द राघवानन्द के शिष्य, किन्तु उनसे स्वतन्त्र विचार करनेवाले थे। संस्कृत के पंडित और उच्च ब्राह्मणकुलोत्पन्न होकर भी जाति-पाँति त्याग दी, मठ त्याग दिया और उत्तर चले आए। उनके कुछ प्रसिद्ध शिष्य निम्नवर्ग के थे—रैदास (चमार), कबीर (जुलाहा), सेना (नाई), धन्ना (जाट)। प्रबल व्यक्तित्व के होते हुए भी रामानन्द शिष्यों को स्वतन्त्र विकास का अवसर देते थे। कबीर इसके उदाहरण हैं। नाथपंथ के हठयोग, सूफीवाद का प्रेमतत्त्व और वेदान्त के अद्वैतवाद को मिलाकर भी वे रामानन्द के शिष्य बने रह सके। कबीर के पुत्र, कमाल के शिष्य दादू थे। दादू के शिष्य सुन्दरदास और रज्जब थे। ऐसी प्रसिद्धि है कि मीरा बाई ने रैदास से दीक्षा ली। गोस्वामी तुलसीदासजी भी, जो उत्तर भारत की महत्तम विभूति कहे गए हैं, रामानन्दी वैष्णव भक्त थे। ये लोक में वर्णाश्रम-व्यवस्था के पक्के समर्थक, किन्तु उपासना-क्षेत्र में जाति-बन्धन के प्रति उदार दृष्टि रखनेवाले थे। मोक्ष की अपेक्षा भी भक्ति इन्हें अधिक काम्य थी और भगवान् के प्रति सम्पूर्ण समर्पण इनमें सबसे अधिक था। इसी सम्प्रदाय में 'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास भी हुए।

मध्व पहले शैव थे, बाद में वैष्णव हुए। जन्म सं० १३१४ में मंगलोर से

३० मील उत्तर उदीपी में हुआ। ये वायु के अवतार कहे जाते हैं। वेदांतसूत्र पर भाष्य और अणुभाष्य इनके ग्रन्थ हैं। इनका सिद्धान्त है कि जीव ब्रह्म से उत्पन्न है, पर जीव परतन्त्र है, ब्रह्म स्वतन्त्र। कृष्ण ही परब्रह्म हैं और भक्ति ही ब्रह्म-प्राप्ति का एकान्त साधन। मध्व-सम्प्रदाय में राधा मान्य नहीं। इस सम्प्रदाय से हिन्दी-साहित्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। चैतन्य पहले इसी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए, बाद में उनका गौडीय वैष्णव-मतवाद प्रवर्त्तित हुआ। कहा जाता है, चैतन्य-सम्प्रदाय के भक्त जीव-गोस्वामी से मीरा ने पहले दीक्षा ली थी, बाद में रैदास से।

विष्णुस्वामी दक्षिण के निवासी और महाराष्ट्र भक्त ज्ञानेश्वर से तीन वर्ष बड़े थे। उन्होंने अद्वैतवाद को माया से रहित मानकर शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन किया। कृष्ण के साथ राधा भी इन्हें मान्य है। इन्होंने गीता, वेदांतसूत्र और श्रीमद्भागवतपुराण पर भाष्य लिखे। इनकी शिष्य-परम्परा में वल्लभ ही प्रधान हैं।

वल्लभाचार्य तेलगु थे। जन्मतिथि वैशाख-कृष्ण एकादशी संवत् १५३५ मानी जाती है। ये संस्कृत के प्रकांड पण्डित थे। ये अग्नि के अवतार कहे जाते हैं। ये शुद्धाद्वैतवादी ही हैं। कृष्ण को ये परब्रह्म, राधा को उनकी स्त्री और वैकुण्ठ को क्रीड़ास्थल मानते हैं। इनके अनुसार ब्रह्म सच्चिदानन्दमय है। जीव में सत् + चित् का अविर्भाव और आनन्द का तिरोभाव है; जड़ में सत् का आविर्भाव और चित् + आनन्द का तिरोभाव है। भक्ति ज्ञान से श्रेष्ठ है। सच्ची भक्ति ईश्वर के अनुग्रह-स्वरूप प्राप्त होती है। इस अनुग्रह को पुष्टि कहते हैं, जो चार प्रकार की है—प्रवाह-पुष्टि, मर्यादा-पुष्टि, पुष्टि-पुष्टि और शुद्ध पुष्टि।

वल्लभ के शिष्यों में सूरदास सबसे प्रसिद्ध तथा श्रेष्ठतम एवं महत्तम भक्त कवियों में से हैं। सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास और कृष्णदास—वल्लभ के इन चार शिष्यों तथा छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास—वल्लभ-पुत्र विट्ठल के इन चार शिष्यों (कुल मिलाकर आठ भक्तों) को लेकर अष्टछाप की स्थापना हुई। सूरदास के सूरसागर में प्रेमलक्षणा भक्ति का प्रतिपादन अत्यन्त कलात्मक ढंग से काव्य और संगीत के स्वरों में हुआ है। कविरूप में नन्ददास भी खूब प्रसिद्ध हैं। वल्लभ के सिद्धान्तों की काव्यात्मक व्यंजना सूर और नन्द की वाणी में बहुत ही प्रभावशाली हुई है।

विट्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ ने ८४ और २४२ 'वैष्णवन' की 'वार्ताएँ'

लिखीं। भक्तों की इस धारा के अंतर्गत आगे चलकर मुसलमान कवि रसखान भी हुए।

१२वीं सदी के निंबार्क तेलगु-प्रदेश से आकर वृन्दावन में बस गए। ये सूर्य के अवतार कहे जाते हैं। गीतगोविन्दकार जयदेव इनके शिष्य थे। निंबार्क के ग्रंथ हैं—वेदान्तसूत्र पर भाष्य और दशश्लोकी। ये राधाकृष्ण के उपासक, द्वैताद्वैत के प्रवर्त्तक थे। इनके अनुसार ब्रह्म से भिन्न होते हुए भी जीव उसमें अपनी सत्ता खो देता है, फिर कोई अन्तर नहीं रह जाता। इस चरम मिलन की साधना भक्ति से सम्भव है। कृष्ण परब्रह्म हैं, उन्हीं से राधा तथा गोपिकाओं का आविर्भाव हुआ है। इस मत से प्रभावित कवि हितहरिवंश का राधावल्लभ-सम्प्रदाय भी उल्लेखनीय है।

एक बात याद रखने की है कि वैष्णव भक्ति-परम्परा के अंतर्गत आचार्य एक होता है, भक्त दूसरा। आचार्य ज्ञान देता है, उपास्य का स्वरूप-बोध कराता है; भक्त बोधवृत्ति द्वारा ग्रहण कर उस स्वरूप में रागवृत्ति के सहारे लीन हो रसमग्न हो जाता है। रामानन्द आचार्य थे, तुलसीदास भक्त। वल्लभ आचार्य थे, सूरदास भक्त। यह नहीं कि आचार्य भक्ति-शून्य होता है। यहाँ तात्पर्य यह है कि ज्ञान और भक्ति, आचार्यत्व और आराधकत्व एक दूसरे का विरोधी नहीं, पूरक है। अतएव पश्चिमी रहस्यवादियों की तरह वैष्णव भक्त ज्ञान का काम भक्ति से नहीं लेता, बोधवृत्ति से भिन्न 'स्वानुभूति' (Intuition) का दावा कर उसके द्वारा, प्रेम या भक्ति की तीव्रता के फलस्वरूप नवीन ज्ञान की उपलब्धि की घोषणा नहीं करता। वैष्णव भक्ति में इसी हेतु रहस्यवाद के लिए अवकाश नहीं।

जायसी का प्रेम-काव्य

किसी युग विशेष की समस्या का समाधान उसी युग की परिस्थितियों में निहित रहता है। मानों इसी तथ्य के दृष्टान्त-स्वरूप प्रारम्भिक मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के वातावरण में मलिक मुहम्मद जायसी का आविर्भाव हुआ। हिन्दू-मुस्लिम एकता की समस्या सबसे अधिक महत्त्व की थी। "कबीर ने अपनी झाड़-फटकार के द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों का कट्टरपन दूर करने का प्रयत्न किया। वह अधिकतर चिढ़ाने वाला सिद्ध हुआ, हृदय को स्पर्श करने वाला नहीं। मनुष्य मनुष्य के बीच जो रागात्मक सम्बन्ध है, वह उनके द्वारा व्यक्त न हुआ।............जायसी आदि उन प्रेम-कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन-दशाओं को सामने रक्खा जिनका मनुष्यमात्र के हृदय पर एक-सा प्रभाव पड़ता है। उन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कह कर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामञ्जस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। यह जायसी द्वारा पूरी हुई[1]।"

इस उद्देश्य की पूर्ति जायसी ने जिस रूप में की उसका स्थूल प्रतिफलन 'पद्मावत', 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' हैं। 'पद्मावत' चित्तौराधिपति रत्नसेन और सिंहलद्वीप की अद्वितीय सुन्दरी कुमारी पद्मावती की प्रेम-गाथा है। है तो यह लौकिक प्रेम-कहानी ही, पर समस्त कथावस्तु में एक आध्यात्मिकता की अन्तर्धारा अभिव्याप्त है। लौकिक प्रेम द्वारा आत्मा और परमात्मा के अलौकिक प्रेम-सम्बन्ध की व्यंजना और कहीं-कहीं तो इसमें स्पष्ट कथन भी है। अखरावट में नागरी वर्णमाला के अक्षरों से छन्दारम्भ कर एक

१. हिं. सा. का इ.—पं० रा. च. शुक्ल—पृ. १२३

ओर वेदांत और दूसरी ओर सूफीवाद सम्बन्धी तथ्यों का वर्णन है। 'आखिरी कलाम' में कयामत आदि का वर्णन है।

जायसी की अक्षय कीर्ति का आधार वस्तुतः पद्मावत ही है। इसका कथानक आदि हिन्दू वातावरण लिए हुए है, पर इसके पीछे सूफी सिद्धांतों की रूपरेखा स्पष्ट है।

दार्शनिक आधार—जायसी की काव्यकला की चेतना का निर्माण दो तत्त्वों से हुआ-सा जान पड़ता है। एक तो यह तत्त्व जो उन्होंने भारतीय हिन्दू-संस्कृति के संसर्ग से ग्रहण किया, और दूसरा वह जो मुसलमान होने के नाते संस्कारवश इस्लाम के अन्तर्गत सूफ़ी मत से प्राप्त किया। दोनों धर्मों का स्पष्ट प्रभाव उनकी रचनाओं में लक्षित है। हिन्दू-संस्कृति की प्रेरणा के फल-स्वरूप अवधी में उन्होंने ग्रंथ-रचना की। छन्द भी हिन्दी के ही लिए। पद्मा-वत में वेदांत, हठयोग और रसायण सम्बन्धी उक्तियाँ उल्लेखनीय हैं। विरह और षट्ऋतु वर्णन की मार्मिकता से तथा पात्रों के चरित्र-चित्रण का हिन्दू जीवन के उच्चतम आदर्शों के साथ पूर्ण सामंजस्य से भी हिन्दू प्रभाव की पुष्टि होती है।

इसके अलावा मुसलमानी संस्कार का प्रभाव प्रथमतः उनकी शैली द्वारा अभिव्यक्त है। पद्मावत की रचना फ़ारसी की मसनवियों के ढंग की है "समस्त रचना में अध्याय और सर्ग न होकर धटनाओं के शीर्षकों के आधार पर खंड हैं। कथा ५७ खण्डों मे समाप्त हुई है। कथा-प्रारम्भ से पूर्व स्तुति खंड में ईश्वर-स्तुति, मुहम्मद और उनके चार मित्रों की वन्दना, फिर तत्का-लीन राजा (शेरशाह) की वन्दना आदि में मसनवी के प्रभाव का संकेत है। जायसी के विरह-वर्णन में, जहाँ रस-शास्त्र के सामान्य नियमों के अनुकूल रति-भाव ही अपेक्षित होता है, जो वीभत्सता आ गई है वह भी मुसलमानी शैली से ही उद्भूत है। उदाहरण—

विरह सरागन्हि भूंजै माँसू।
गिर गिरि परै रकत कै आँसू॥

इस प्रकार विरह-वर्णन हिन्दू-संस्कृति और काव्य-पद्धति के अनुकूल नहीं। मसनवी की अनावश्यक वर्णन-विस्तार की प्रवृत्ति भी जायसी के पद्मावत से दृष्टिपथ में आती है, जिससे कथानक की सजीवता को आघात पहुँचता है। पर सबसे बड़ी बात तो इस सम्बन्ध में है जायसी के कथानक में सूफी सिद्धान्तों की रूपरेखा। प्रो० डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार, समस्त कथा में सूफी

सिद्धांत बादल में पानी की बूँद की भाँति छिपे हुए हैं। इसमें साधकों की चार अवस्थाओं शरीअत, तरीक़त, हक़ीक़त और मारिफ़त का संकेत बड़े चातुर्य से किया गया है। अन्त में समस्त कथा को सूफ़ी मत का रूपक माना गया है—

तन चितउर मन राजा कीन्हा
हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा
गुरु सूआ जेहि पन्थ दिखावा
बिन गुरु जगत को निरगुन पावा
नागमती यह दुनियाँ धंधा
बाँचा सोई न एहि चित्त बंधा
राघव दूत सोई सैतानू।
माया अलउदीं सुलतानू॥

वस्तुतः यह सूफ़ी मत है क्या वस्तु? इसके उद्गम और विकास की कहानी क्या है? इन बातों पर थोड़ा विचार कर लेना यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

'सूफ़ी' शब्द की व्युत्पत्ति 'सूफ़' अर्थात् ऊन से प्रसिद्ध ही है। इस्लाम के मूल सिद्धान्तों से कुछ मतभेद रखने वाले और सादगी एवं आडम्बरहीनता को प्रधानता प्रदान करने वाले मुसलमान सूफ़ी कहलाए। ये सफ़ेद ऊन का वस्त्र पहनते थे, परमात्मा की सत्ता को सर्व-व्यापक मानते थे एवं प्रेम द्वारा आत्मा और परमात्मा के सान्निध्य में विश्वास रखते थे। एकेश्वरवाद (Monotheism) से इसका सिद्धान्त वेदांत के अद्वैतवाद (Monoism) के अधिक समीप था। सूफ़ी धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यूरोपीय विद्वानों ने चार कारण बतलाए हैं—

१—मुहम्मदीय धर्म में व्यापकता का अभाव (Catholicity)।

२—सेमेटिक (Semetic) धर्म के विरुद्ध आर्य धर्म की प्रतिक्रिया, जो उपनिषदों के सिद्धान्तों के छन-छन कर उस ओर जाने के कारण हुई।

३—ग्रीस के निओ-प्लैटोनिक (Neo-platonic) मत का प्रभाव।

४—स्वतन्त्र उत्पत्ति—नीरदकुमारराय के मत में सूफ़ीवाद पर उपनिषद् का स्पष्ट प्रभाव दीखता है।[1]

---

१ प्रवासी—फाल्गुन १३०५

सूफ़ियों की मुख्य साधना है कल्ब (हृदय) और रूह द्वारा नफ्स (इन्द्रियों) पर रौब ग़ालिब करना। आध्यात्मिक प्रेम इनकी पूँजी है। आलमे लाहूत में आत्मा-परमात्मा के चिरन्तन प्रणय-मिलन की उपलब्धि इनकी साधना का उद्देश्य है। आत्मा आशिक है और परमात्मा माशूका। दोनों में इश्क का मधुर सम्बन्ध है। हिन्दी की कृष्ण-भक्ति शाखा के कवियों में भी दाम्पत्य-प्रेम की भावना पायी जाती है। सूफ़ियों की तो वह निधि ही थी। परमात्मा की दाम्पत्य प्रेम द्वारा उपलब्धि ही माधुर्य भाव की उपासना है। जब यह माधुर्य भाव सूफ़ियों से छिन कर हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत रहस्यवादी कवियों में आया तो इसका रूप कुछ परिवर्तित हो गया। सूफ़ियों के लिए अल्लाह लैला के रूप में रहा पर कबीर आदि ने भारतीय परम्परा के अनुसार राम को प्रियतम कहा और आत्मा को उनकी 'बहुरिया'।

जायसी ने दोनों प्रवृत्तियों का सामञ्जस्य करना चाहा है। न केवल प्रेमिका ही प्रेमी के विरह में बेजार आँसू बहाती है, वरन् प्रेमी भी 'प्रेम की पीर' लिए योगी बन कर वन वन की खाक छाना करता है। पर अधिक तड़प, अधिक बेचैनी, अधिक कष्टों का सामना रत्नसेन के ही हिस्से पड़ा है, पद्मावती के नहीं। प्रेम की भावना का प्रस्फुटन भी पहले रत्नसेन के ही हृदय में होता है। फिर भी फ़ारसी की मसनवियों जैसा ऐकांतिक और लोकवाह्य प्रेममात्र उसमें नहीं, वरन् भारतीय व्यवहारात्मक और लोकसम्बद्ध प्रेम पद्धति का प्रभाव भी उसपर है। आरम्भ में प्रेम की विषमता और पूर्वापर सम्बन्ध की योजना भी जायसी को इसलिए करनी पड़ी क्योंकि उन्हें "इस प्रेम को लेकर भगवत्पक्ष में भी घटाना था। ईश्वर के प्रति प्रेम का उदय पहले भक्त के हृदय में होता है। ज्यों-ज्यों यह प्रेम बढ़ता जाता है त्यों-त्यों भगवान् की कृपा-दृष्टि भी होती जाती है। यहाँ तक कि पूर्व प्रेमदशा को प्राप्त भक्त भगवान् को भी प्रिय हो जाता है।"[1] हम देखते हैं पद्मावती भी रत्नसेन के प्रेम की गहराई का परिचय पाते ही प्रेम-मग्न हो जाती है। फिर भी अप्रस्तुत आराध्य के लिए प्रस्तुत नायिका, तथा अप्रस्तुत साधक के लिए प्रस्तुत नायक (पुरुष) की योजना सूफी प्रेम-पद्धति की ओर ही जायसी की कुछ अधिक रुचि होने की परिचायिका है।

प्रस्तुत और अप्रस्तुत का यह विधान, कथानक में आध्यात्मिक व्यञ्जना की यह रूपरेखा सर्वत्र सफलतापूर्वक निभ नहीं पायी है। लौकिक प्रेम-प्रबन्ध

---

१ जायसी ग्रंथावली—पं० रा० च० शुक्ल—भूमिका पृ० ७१

के प्रबल-प्रवाह में आध्यात्मिकता की अन्तर्धारा विलीन-सी हो गई है । और इसका कारण हुआ है कथा का अत्यधिक विस्तार एवं सयोग पक्ष में शृङ्गारिक वर्णन की प्रचुरता । फिर जहाँ कहीं भी आध्यामिक संकेत हैं, अच्छे हैं । उनमें चमत्कार है, सुषमा है, सौन्दर्य है, कला है ।

"पद्मिनी के रूप-वर्णन में जायसी ने कहीं-कहीं उस अनन्त सौन्दर्य की ओर, जिसके विरह में सारी सृष्टि व्याकुल-सी है, बड़े ही सुन्दर संकेत किए हैं—

बरुनी का बरनौं इमि बनी । साधे बान जानु दुइ अनी ।
उन बानन्ह असको जो न मारा । बेधि रहा सगरौ संसारा ।
गगन नखत जो जाहिं न गने । वे सब बान ओहि के हने ।
धरती बान बेधि सब राखी । साखी ठाढ़ देहि सब साखी ।
बरुनि बान अस ओपहँ, बेधे रन, बन ढाँक,
सौजहिं तन सब रोआँ, पंखिहि तन सब पाँख ।

आध्यात्मिक व्यंजना के हेतु ही रत्नसेन का सिंहल द्वीप से लौटते समय तूफान द्वारा लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाने के वर्णन को कथानक के अन्दर स्थान दिया गया । सिंहल द्वीप के लिए प्रयाण करने के उपरान्त योगी रत्नसेन के मार्ग की कठिनाइयों के बहाने भी साधक के मार्ग के विघ्नों (काम-क्रोधादि) की ही अभिव्यक्ति है ।

आध्यात्मिक पक्ष में घटाने की प्रेरणा के ही वश कहीं-कहीं मनोविज्ञान और काव्य की कलात्मकता पर आघात भी पहुँचा है । जैसे सूए के मुख से पद्मावती के रूपवर्णन के सुनने मात्र से ही रत्नसेन के हृदय में प्रेम का उत्पन्न हो जाना । पर जायसी को इसकी व्यवस्था इसलिए करनी पड़ी कि वे गुरु के श्रीमुख से सुनकर साधक के मन में उत्पन्न भगवदनुराग की व्यंजना भी इसीसे कराना चाहते थे । उन्होंने कहा भी है—

"गुरु सूआ जेहि पंथ दिखावा"

इस प्रकार शब्द-सौंदर्य और कला की हत्या के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं । पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि उनकी कविता में कला की कमनीय कोमलता का नितान्त अभाव ही है ।

कलापक्ष—इसके विपरीत हम पाते हैं कि जायसी कवि की दृष्टि से अत्यन्त ऊँचे पद के अधिकारी हैं । उनकी प्रबन्ध-कल्पना का निर्वाह, उनके

चरित्र-चित्रण की मनोवैज्ञानिकता, उनकी भाव-व्यंजना की मार्मिकता, उनके सौन्दर्य-चित्रण का अभिराम आकर्षण और उनकी अनुपम अलंकार-योजना उनके काव्य के कलात्मक उत्कर्ष के साक्षी हैं। आधिकारिक और प्रासंगिक कथावस्तुओं का मधुमय सामंजस्य कथानक को कला की कमनीयता प्रदान करता है। प्रासंगिक वृत्तों की आवश्यकता समाप्त हो जाने पर अवसान; कार्यान्विय (Unity of action) की रक्षा; कार्य—जिसकी पूर्ति के लिए अन्य घटनाओं की योजना होती है—की महत्ता आदि जायसी के प्रबन्ध-चातुर्य के प्रमाण-स्वरूप हैं। केवल एक बात खटकती है। वह है मार्मिक परिस्थिति के विवरण और चित्रण के लिए आयोजित घटनावली के विरामों के अलावा केवल पाण्डित्य-प्रदर्शन आदि के हेतु नियोजित विराम, जहाँ वस्तुओं की नामावली गिनायी गई है। एक-देश-प्रसिद्ध शब्दों के प्रयोग के कारण अप्रतीतत्व दोष भी कहीं-कहीं ऐसे स्थलों पर हम पाते हैं।

चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि इनके पात्र यद्यपि किसी आदर्श के साँचे में ढले हुए हैं, फिर भी उनके आदर्श एकदेशीय हैं। गोस्वामी तुलसीदास के राम जहाँ एक साथ ही बल-पौरुष, नीति-मर्यादा, प्रेम-करुणा आदि सब-कुछ के आदर्श हैं वहाँ रत्नसेन प्रेम के और गोरा-बादल वीरता के आदर्श हैं। फिर भी उन आदर्शों की व्यंजना अनुपम हुई है।

जायसी की अलंकार-योजना भी भावों के चरमोत्कर्ष में सहायक ही है। सादृश्य-मूलक अलंकारों का उपयोग वे अधिक करते हैं। कहीं-कहीं अलंकार अत्यन्त गूढ़ हैं। हेतूत्प्रेक्षा इन्हें प्रिय है। फलोत्प्रेक्षा भी कई जगह है। रूपकातिशयोक्ति उनकी अत्यंत मनोहर होती है। इसका भी एक ही उदाहरण देखिए—

राते कवंल करहिं अलि मवां।
घूमहिं माति करहिं अपसवां॥

फिर भी सामान्य रूप से देखने पर काव्य-दृष्टि से भी जायसी की रचना अत्यन्त उच्चकोटि की ठहरती है। पद्मावत हिन्दी-साहित्य की अपने ढंग की एकमात्र सम्पत्ति है।

सूरदास की काव्य-माधुरी

मध्यकालीन जीवन के नीहारमय वातावरण में, जब आलोचना का विकास नहीं हो पाया था, किसी कवि को कितनी लोकप्रियता मिली थी, इसका अन्दाज उसके सम्बन्ध में प्रचलित सूक्तियों से लगाया जा सकता है।

सूर के सम्बन्ध में परम्परा से ये सूक्तियाँ प्राप्त हुई हैं—

१. सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास॥

२. कविता करता तीन हैं, तुलसी केसव सूर।
कविता खेती इन लुनी, सीला बिनत मजूर॥

३. किधौं सूर को सर लग्यौ, किधौं सूर को पीर।
किधौं सूर को पद लग्यौ, तन मन धुनत सरीर॥

४. उत्तम पद कवि गंग के, उपमा को बलबीर।
केशव अर्थ गँभीरता, सूर तीन गुण धीर॥

५. तत्त्व तत्त्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी।
बची खुची कबिरा कही, और कही सो जूठी॥

६. भनै रघुराज और कविन अनूठी उक्ति
मोहि लागी जूठी जानि जूठी सूरदास की।

(राम रसिकावली—महाराज रघुराज सिंह)

७. भाषै रघुराज राधा माधव को रासरस
कौन प्रगटावतो जो सूर नहिं आवतो।

(राम रसिकावली—म० रघुराज सिंह)

८. महामोहमद छाइ, अंधकार सब जग कियो।
हरिजस सुभ फैलाइ, सूर सूर सम तम हर्यो।

९. उक्ति, चोज, अनुप्रास, बान, अस्थिति अति भारी।
वचन. प्रीति-निर्वाह अर्थ अद्भुत तुक धारी।
प्रतिबिम्बित दिवि दृष्टि, हृदय हरि लीला भासी।
जन्म, कर्म, गुन, रूप सबै रसना जु प्रकासी।

विकल बुद्धि गुनि और की
जो वह गुन सुवननि धरै।
श्री सूर कवित सुन कौन कवि
जो नहिं सिर चालन करै।।
(भक्तमाल—नाभादास)

१०. सूर सिंधु, तुलसी के मानस,
मीरा के उल्लास अजान।
मेरे छन्दों में भी भर दो,
गायक, वह स्वप्निल मुस्कान।

११. सूर सूर तुलसी ससि जिसकी
विभा यहाँ फैलाते हैं।
जिसके बुझे कणों को पा कवि
अब खद्योत कहाते हैं।
उसकी विभा प्रदीप्त करे
मेरे उर का कोना कोना।
छू दे यदि लेखनी, धूल भी
चमक उठे बनकर सोना।।

ऐसे स्वयंप्रभ कवि के सम्बन्ध में, आइए, हम थोड़ा विचार कर लें।

जीवन-परिचय—नाभादास के 'भक्तमाल' में कई सूरदासों की चर्चा हुई है—जैसे बिल्वमंगल सूरदास जो चिन्तामणि नामक वेश्या के प्रति आसक्त थे और पीछे कृष्णभक्त होने पर जिन्होंने अपनी आँखें फोड़ ली थीं; सूरदास मदनमोहन जो सभवतः अकबर के दरबारी थे; सूरजदास जो श्री सीताराम के उपासक थे और अष्टछाप के सूरदास जो सूरसागर के रचयिता प्रसिद्ध कवि थे। इससे स्पष्ट है कि सूरसागर के कवि सूरदास अन्य सूरदासों से भिन्न हैं।

विरक्त होने के कारण सूर ने अपने विषय में कुछ खास नहीं लिखा। उनकी जीवनी के सम्बन्ध में हमें थोड़ी-बहुत जानकारी गोकुलनाथ कृत 'चोरासी वैष्णवन की वार्ता' और उस पर हरिराय की 'भावप्रकाश' नामक टिप्पणी से ही मिलती है। इनसे पता चलता है कि सूरदास के माता-पिता दरिद्र सारस्वत ब्राह्मण थे, सूरदास का जन्म मथुरा के पास सीही नामक ग्राम में हुआ था, वे गऊघाट के ऊपर निवास करते थे, छोटी उम्र में ही विरक्त हो गए, और वल्लभाचार्य से दीक्षा लेकर कृष्णलीला के पद लिखने लगे। इन्होंने अपने प्रसिद्ध काव्य सूरसागर की रचना श्रीमद्भागवत के अनुसार की। ये अन्धे थे, यह 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से सिद्ध है। कुछ लोगों ने इन्हें जन्मान्ध कहा है, पर कुछ आधुनिक विद्वान इन्हें जन्मान्ध नहीं मानते, क्योंकि उनके मत में सूर ने रूप-सौन्दर्य का जो यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण किया है वह बिना कभी आंखों देखे संभव नहीं। सूरदास बहुत दिनों तक श्रीनाथ के मन्दिर में कीर्तन करते थे। अन्त समय में पारसोली आ गए जहाँ उनकी मृत्य हुई। वे गुरु वल्लभाचार्य से दस दिन छोटे कहे जाते हैं। उनकी जन्म-तिथि वैशाख सुदी पञ्चमी संवत् १५३५ है। अनुमान किया जाता है कि उनकी मृत्यु संवत् १६४० के लगभग हुई। वल्लभाचार्य के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ ने इनकी गिनती अष्टछाप के कवियों में की।

ग्रन्थ—यों तो सूरदास के नाम से बहुत से ग्रन्थ मिलते हैं, पर सूर-सारावली, साहित्य-लहरी और सूरसागर ही प्रामाणिक माने गए हैं। सूरसागर प्रमुख है। उसमें श्रीमद्भागवत के अनुसार बारह स्कन्ध हैं। पहले नौ स्कंधों की कथा का उल्लेख सूर ने बहुत ही संक्षेप में किया है। इनमें भगवान् के भिन्न-भिन्न अवतारों का वर्णन और दूसरी पौराणिक कथाएँ हैं। दसवें स्कन्ध में कृष्ण-कथा है जिसका वर्णन सूर ने विस्तारपूर्वक किया है। यह स्कन्ध दो भागों में बँटा है—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। इनमें कृष्ण के जन्म, बाललीला, पनघट-लीला, गोवर्द्धन-लीला, दानलीला, रासलीला, राधा और गोपियों से प्रेम और उनका विरह, भ्रमरगीत प्रसंग, सुदामा दारिद्र्यभंजन, रुक्मिणी-विवाह आदि का मार्मिक वर्णन हुआ है। बीच-बीच में कालियदमन, असुर-वध और यमलार्जुन, नृग आदि के उद्धार के प्रसंग भी आते गए हैं। शेष दो स्कंध संक्षिप्त हैं।

मौलिकता—सूरसागर की रचना भागवत के अनुसार करके भी सूर ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। भागवत में धर्मोपदेश, सम्प्रदाय-

सिद्धान्त और दर्शन की प्रधानता है, पर सूर-सागर में भक्ति की महिमा दिखलाने के उद्देश्य से भगवान् की लीलाओं का वर्णन ही प्रधान है। सूर-सागर की एक और मौलिकता है राधा का चरित्र। राधा की चर्चा न तो महाभारत में है और न भागवत में। हाँ, ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में अवश्य राधा आई है।

दर्शन और साम्प्रदायिक दृष्टिकोण—सूरसागर की रचना एक भक्त और कवि के दृष्टिकोण से हुई है, इससे यह न समझना चाहिए कि उसमें दार्शनिकता है ही नहीं। सच तो यह है कि सूरसागर में वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत और पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त को कल्पना और भावुकता से युक्त अत्यन्त सुन्दर काव्यमय रूप मिला है। शुद्धाद्वैत के अनुसार ब्रह्म और जीव, दोनों नित्य हैं। ब्रह्म सच्चिदानन्दमय है, जीव में सत्-चित् तो प्रकट है, आनन्द अप्रकट। इसीसे जीव तो दुख का अनुभव करता है, ब्रह्म नहीं। पुष्टिमार्ग का अर्थ है भगवान् के अनुग्रह का मार्ग। भगवान् की कृपा से ही जीव के अन्दर भक्ति उत्पन्न होती है। भक्ति ज्ञान से बड़ी है। भक्ति से मुक्ति भी मिलती है, पर सच्चा भक्त निष्काम भाव से सिर्फ भक्ति चाहता है। सूरसागर में ये सिद्धान्त भरे हैं। सूर द्वारा वर्णित समस्त कृष्णलीला एक आध्यात्मिक रूपक कही जा सकती है। कृष्ण परब्रह्म के प्रतीक हैं, गोपियाँ जीवात्माएँ हैं, मुरली भागवन् की कार्य-साधिका माया है, रास भक्त और भगवान् का मिलन है। सख्य भाव के भक्त होने के नाते सूर भगवान् के इन गोपनीय रहस्यों को देखने के अधिकारी थे।

काव्य-विषय—सूर अनन्य भक्त होने के साथ-साथ उच्च कोटि के कवि भी थे। उनकी कविता में वर्ण्य विषय का विस्तार कम, भावों की गहराई अधिक है। तुलसीदास के समान उन्होंने जीवन के विविध क्षेत्रों से भावसामग्री नहीं ली है बलिक सिर्फ कृष्ण के बाल्य-जीवन और प्रेम-लीलाओं की मार्मिक झांकी दिखाई है। तुलसी के काव्य में प्रायः सभी भावों और रसों को स्थान मिला है, पर सूर ने सिर्फ वात्सल्य भाव और शृंगार रस का ही विस्तार से वर्णन किया है। इसकी वजह यह है कि उन्होंने कृष्णचरित्र का आधार भागवत को बनाया है, महाभारत को नहीं। महाभारत के कृष्ण योगिराज, धर्मोपदेशक और राजनीति-कुशल योद्धा भी हैं, पर भागवत में कृष्ण के मधुर, प्रेममय, लीलामय रूप का ही वर्णन है। सूर ने इस मधुर रूप को ही अपनाया। फिर भी सूर के वर्णन में जो गहराई है वह दूसरी जगह

दुर्लभ है। वात्सल्य भाव के आलम्बन बालक कृष्ण हैं। उनकी बालसुलभ चेष्टाएँ उद्दीपन हैं। इन चेष्टाओं के अनेक प्रकार से, बहुत ही सूक्ष्म वर्णन सूर के काव्य में भरे पड़े हैं। कहीं बालक कृष्ण स्फटिक आँगन में अपनी ही परछाईं को पकड़ने की चेष्टा कर रहे हैं, कहीं वे 'मुख दधि लेप किए', 'कर नवनीत लिए' शोभित हो रहे हैं, कहीं 'रेनु-तन-मंडित' घुटुरुन चल रहे हैं, कहीं चंदखिलौना के लिए हठ करते हैं, कहीं चोरी पकड़े जाने पर भी मक्खन का दोना छिपाते और अपने निर्दोष होने की सफाई देते हैं, कहीं ओखल में बंधे दीखते हैं, तो कहीं माखन चोरी कर 'ग्वालिन मन इच्छा करि पूरन' भागते नजर आते हैं। खासा भण्डार भरा पड़ा है। ये चेष्टाएँ किसी भी सहृदय को गद्‌गद् किए बिना नहीं रह सकतीं।

चरित्र-चित्रण—इसके बाद कृष्ण के चरित्र का जो विकास दिखलाया गया है वह बिल्कुल मनोवैज्ञानिक है। प्रथम परिचय में ही राधा के प्रति कृष्ण आकृष्ट हो जाते हैं, फिर 'खेल खेल में ही इतनी बड़ी बात हो जाती है जिसे प्रेम कहते हैं'। संयोग शृंगार का जैसा सच्चा और प्रभावशाली चित्रण सूर ने किया है वह देखते ही बनता है! इस वर्णन की चरम सीमा वहाँ है जहाँ शरत्पूर्णिमा की चाँदनी रात में कृष्ण की मुरली सुन प्रेमविभोर गोपियाँ यमुना के किनारे खिंच आती हैं और कृष्ण रास रचते हैं। बीच में राधा-कृष्ण, चारों ओर गोपियाँ। रास के ताल-लय की तन्मयता से देवगण भी प्रभावित होते हैं।

शृंगार-रस के वियोग पक्ष का वर्णन तो और भी मर्मस्पर्शी आ है। ब्रज में वियोगविधुरा गोपियों को समझाने-बुझाने के लिए कृष्ण मथुरा से ज्ञानी उद्धव को भेजते हैं। उद्धव का उपदेश सुनने के बजाय गोपियाँ कृष्ण को, मुरली को, कुब्जा को उलाहना देती हैं, एक भौंरे के आ जाने पर उसे सम्बोधित कर उद्धव को भरपूर उल्लू बनाती हैं और कृष्ण-प्रेम की रट लगाए जाती हैं। बेचारे उद्धव का ज्ञानगर्व गोपियों के प्रेम की धारा में बह जाता है। वे ज्ञानी से भक्त बनकर लौटते हैं। 'भ्रमर गीत' नामक यह प्रसंग सूरसागर का श्रेष्ठतम अंश कहा गया है और सचमुच विरह-काव्य का उत्कृष्ट नमूना है।

आइए, हम सूर के मुक्तकों के सहारे कृष्ण-जीवन की जीती-जागती तस्वीर देखें—

भादों की उमड़ती अधरतिया में, जब 'गरजत मेघ, महा डर लागत',

कृष्ण का जन्म होता है। कंस-कारागार से वे मथुरा कैसे पहुँचाए जाते हैं, इसमें सूर को विशेष रुचि नहीं। वे नन्द-यशोदा के घर की आनन्द बधाई के वर्णन में रम जाते हैं। पालने में सोते कृष्ण की झांकी तो जरा देखिए—

जसोदा हरि पालने झुलावै।
मेरे लाल की आउ निंदरिया··
तोकै कान्ह बुलावै।
कबहुँ अधर हरि मूँद लेत हैं, कबहु पलक फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि करि करि सैन बनावै॥

अथवा—

कर गहि पग-अँगुठा मुख मेलत
प्रभु पौढ़े पालने अकेले हरषि हरषि अपने रँग खेलत।
सिव सोंचत, बिधि बुद्धि बिचारत बट बाढ्यो
सागर जल झेलत।

सूर के कृष्ण साधारण बालक मात्र नहीं, वे साक्षात् परब्रह्म हैं। इसलिए उनके बाल-वर्णन की स्वाभाविकता के बीच-बीच अलौकिकता के दर्शन भी होते हैं। शैशव में ही पूतना-वध, श्रीधर-अंगभंग, कागासुर, सकटासुर और तृणावर्त्त का वध इसके उदाहरण हैं। सूर का कमाल तो इसमें है कि ये अलौकिक लीलाएँ कृष्ण की सहज बाल चेष्टाओं की मोहकता में बाधा नहीं डालतीं! ऐसी बालचेष्टाओं का खजाना भरा पड़ा है—

कहीं कृष्ण—

'सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किए।'

कहीं—

'सिखवति चलन जसोदा मइया।
अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरे पइयाँ।'

कहीं कृष्ण हठ करते हैं—

'मैया, मैं तो चन्दखिलौना लैहौं।'

कहीं बलराम के खिजाने पर मां से शिकायत करते हैं—

'मोको कहत मोल को लीनो, तोहि जसुमति कब जायो।

माखन चोरी के लिए तो वे बदनाम ही हैं। एक बार पकड़े जाने पर मां के आगे कैसे भोले-भाले बनकर बहाने बनाते हैं—

'मैया मोरी मैं नहिं माखन खायो।
मैं बालक बहियन को छोटो छीको केहि विधि पायो।'

पर यह मुँह में जो माखन लगा है, इसकी सफाई ?

'ग्वाल बाल सब बैर परे हैं, बरबस मुँह लपटायो।'

उलूखल बन्धन और यमलार्जुन उद्धार तो एक खण्ड-कथानक ही है। कुछ बड़े होने पर कृष्ण हठ कर गाय चराने जाते हैं—

'आजु मैं गाय चरावन जैहौं।
वृन्दावन के भाँति भाँति फल अपने करतें खैहौं।

माता यशोदा को आशंका होती है—

'तनक तनक पग चलिहौ कैसे, आवत ह्वै है राति।'

पर कृष्ण के आगे भला उनकी क्या चलेगी ?

सूर द्वारा वर्णित गोचारण दृश्य बड़े मार्मिक हैं। सूर ने मनुष्य-हृदय को सभ्यता के कृत्रिम घेरे के अन्दर रखकर ही नहीं देखा, वरन् प्रकृति के स्वच्छन्द विस्तार के बीच भी परखने का प्रयत्न किया है। गोचारण के लिए जाना प्रकृति-चित्रण के साथ-साथ कृष्ण के जीवन में अनेक घटनाओं की सम्भावना के द्वार खोल देता है। बकासुर, अघासुर, प्रलंब वध, कालियदमन और गोवर्द्धन-धारण ही नहीं, मुरली वादन, राधाकृष्ण मिलन और गोपी-लीला के लिए भी गोचारण प्रकृति मनोरम पीठिका प्रस्तुत करती है।

कृष्ण वन में मुरली बजाते हैं। यह मुरली भी क्या बला है ? गोपियों की दशा देखिए—

'जब तैं बंसी स्रवन परी।
तब ही तैं मन और भयो सखि, मो तन सुधि बिसरी।'

गोपियों को क्या, स्वयं कृष्ण को भी यह मुरली नाना भाँति नचा छोड़ती है। फिर भी जाने क्यों वह कृष्ण को इतनी प्रिय है ? धृष्टता तो देखिए—

'आपुन पौढ़ि अधर सज्जा पर, कर-पल्लव पलुटावति।
भृकुटी कुटिल, नैन नासापुट हम पर कोप करावति।'

गोपियाँ मुरली को अनेक रूपों में देखती हैं, कभी सौत के रूप में, कभी जादूगरनी के रूप में, कभी पटरानी के रूप में।

ऐसी मुरली से पीछा छुड़ाने का एक ही उपाय है—

'सखी री मुरली लीजै चोरि।
जिनि गुपाल कीन्हें अपने बस, प्रीति सबन की तोरि।'

पर मुरली के आगे गोपियों की एक नहीं चलती। वे सोचती हैं—

'मुरली कौन सुकृत फल पाए।
अधरसुधा पीवत मोहन की, सबै कलंक गँवाए।'

इस प्रश्न का उत्तर स्वयं मुरली देती है—

'षड्रितु सीत उष्न बरषा में ठाढ़े पाइ रही।···
कसकी नहीं नैकहूँ काटत, घामै राखी डारि।'

मुरली ने तप करके कृष्ण को पाया है। भला कोमल गात वाली गोपियाँ क्या उनकी बराबरी कर सकेंगी?

राधाकृष्ण का मिलन भी ड्राइङ्गरूम में नहीं यमुना-तट के खुले वातावरण में होता है—

'औचक ही देखी तहँ राधा नैन बिसाल भाल दिए रोरी।'

आँखें मिलते ही हृदय मिल जाते हैं। कृष्ण के यह पूछने पर—

'कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रजखोरी।'

राधा उत्तर देती है—

'काहे कौं हम ब्रजतन आवतिं, खेलत रहतिं आपुनी पौरी।
सुनत रहत स्रवननि नँद ढोटा करत फिरत माखन दधि चोरी।'

पर कृष्ण बातों में ही भोलीभाली राधिका को भुला लेते हैं—

'तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहै खेलन चलौ संग मिलि जोरी।'

खेल खेल में ही अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से प्रेम का विकास होता है। कृष्ण गाय दूहते हैं, पास राधा खड़ी है। कृष्ण एक धार दोहनी में डालते हैं एक धार राधा के मुख पर। इस तरह की छेड़खानियाँ चलती ही रहती हैं।

कृष्ण का बालचरित्र धीरे-धीरे यौवन-लीला में संक्रमित हो जाता है। इस विकास की एक-एक भंगिमा मनोविज्ञान के अनुकूल है। कहीं अस्वाभा-

विकता नहीं। शृंगार के संयोग-पक्ष की लीलाओं की चरमसीमा रासलीला में है। यों बीच में चीरहरण लीला, यज्ञपत्नीलीला और गोवर्द्धन-कथा भी आ जाती है।

रास-प्रसंग—शरत्पूर्णिमा की चाँदनी रात में कृष्ण की वंशी बज उठती है। गोपियाँ प्रेम विभोर हो, घर-बार, पति-पुत्र की सुधबुध भूल यमुना-किनारे दौड़ पड़ती हैं। हँसी हँसी में कृष्ण उन्हें पातिव्रत का उपदेश देते और घर लौटने को कहते हैं। गोपियाँ क्या उत्तर देती हैं ?

'तुम पावत हम घोष न जाँहि।
कहा जाइ लैहैं हम ब्रज, यह दरसन त्रिभुवन नाहिं।'

क्योंकि वे कृष्ण को ही माता, पिता, पति, सखा सब कुछ मान लेती हैं। उनकी एकान्त भक्ति से प्रसन्न हो कृष्ण उन्हें अपना लेते हैं। रास रचा जाता है। बीच में राधाकृष्ण, चारों ओर गोपियाँ। इस रास की शोभा को देखने के लिए देवताओं के विमान आकाशपथ में रुक जाते हैं। मुरली बजते ही रास आरम्भ होता है। गतिलय की तन्मयता में ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक गोपी के साथ एक-एक कृष्ण नृत्य कर रहे हैं। इसी रास के बीच राधा का विवाह होता है। कुंज मंडप बनता है, पुलिन में वेदी रची जाती है, पक्षी मंगलगान करते हैं।

अब राधा को गर्व हो जाता है कि वह अन्य गोपियों से विशिष्ट है। वह कहती है—

'अति थकित भइ चलत मोहन चलि न मोपै जाइ।
कंठ भुज गहि रही यह कहि—लेहु कंध चढ़ाइ॥'

भक्तवत्सल भगवान् भक्तों के गर्व को कैसे सह सकते हैं। वे अन्तर्धान हो जाते हैं। वियोग में राधा और गोपियाँ विकल होती हैं। कृष्ण के प्रकट होने पर रास फिर आरम्भ होता है। रास का पदविन्यास देखिए—

'मृदु-पद-न्यास, मंद मलयानिल
विगलित सीस निचोल।
पीत-बसन-सित-सेत ध्वजा चल
सीत समीर झकोल॥'

रास की गति तीव्र होती है तो—

'गिरत कुसुम कबरी केसनि तें, टूटत है उर हार।'

और संगीत जाग उठता है—

'चरन रनित नूपुर, कटि किंकिनि, कंकन करतल ताल।
मनु तियतनय समेत सहज सुख मुखरित मधुर मराल।'

भ्रमर-गीत—भ्रमरगीत में वियोग शृंगार-रस की अभिव्यक्ति मर्मस्पर्शी है। गोपियों के विरहदग्ध हृदय को ज्ञान-गर्वित ऊधो निर्गुण ब्रह्म के उपदेश द्वारा सान्त्वना नहीं दे पाते। गोपियाँ उन्हें भरपूर उल्लू बनाती हैं और कृष्ण-प्रेम की रट लगाए रहती हैं। उनके आंसुओं का पारावार देखिए—

'निसिदिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस रितु हम पै जबतें स्याम सिधारे।'

गोपियों की ही यह दशा नहीं है। कृष्ण के वियोग में जड़-चेतन सब विकल हैं—

'तृन न चरत गो, पिवत न सुतपय, ढूढ़त बनबन डोलैं।
अलिकोकिल जे आदि बिहंगम भीत भयानक बोलैं॥
जमुन भई तन स्याम स्याम बिनु, अंध छीन जे रोगी।
तरुवर पत्र वसन न सँभारत, बिरह बृच्छ भए जोगी॥'

जो गौएँ कृष्ण को प्यारी थीं, उनका दुःख सुनकर शायद उनका हृदय पिघले, यह सोच गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—

'मधुकर, इतनी कहियतु जाइ।
अति कृस गात भई ए तुम बिन परम दुखारी गाइ॥
जल समूह बरसत दोऊ आँखिन, हूँकत लीने नाऊँ।
जहाँ जहाँ गोदोहन कीन्हों सूँघत सोई ठाऊँ॥'

मानव-हृदय की भावुकता का विस्तार मानवेतर जगत में देखना कल्पना की उर्वरता का ही नहीं, हृदय की उदारता का भी परिचायक है। शाश्वत और उदात्त मानव-अनुभूतियों को वाणी देने के कारण सूर के काव्य का रस-प्रवाह कभी सूखेगा नहीं, और न हृदय को ऊँचा उठाने की दृष्टि से उसका महत्त्व ही कम होगा। यह ठीक है कि कृष्णजीवन का जो चित्रण सूर ने किया है वह 'क्रीड़ा, उमंग और उद्रेक' के रूप में है। घटनाओं की अखण्ड परम्परा या अनिवार्य शृंखला उनमें नहीं मिलती। पर इसका कारण है। वह है, कृष्ण-चरित्र सम्बन्धी सूर का ऐकान्तिक पुष्टिमार्गी दृष्टिकोण जिसके आधार

हैं वल्लभाचार्य के उपदेश, श्रीमद्भागवत और ब्रह्मवैवर्त्तपुराण। ऐकान्तिक प्रेम की महत्ता के फलस्वरूप लोककर्त्तव्य के लिए सूर-साहित्य में कोई खास स्थान नहीं। एकान्त प्रेमानुभूति का सम्बन्ध वैयक्तिक साधना से है, सामाजिक कर्त्तव्य-भावना से नहीं। इसीलिए सूर का काव्य लोकजीवन और उसकी समस्याओं के प्रति उदासीन और वात्सल्य तथा मधुर प्रेम की आत्मनिष्ठ भावनाओं से समन्वित है।

रचना-विधान :—इस दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति के लिए गीतिकाव्य ही सबसे उचित माध्यम हो सकता है, क्योंकि गीतिकाव्य में घटनाओं की अन्विति या शृंखला आवश्यक नहीं, निजी अनुभूति अनिवार्य है। गेय पदों में ऐसी आत्मनिष्ठ अनुभूतियों की प्रभावशाली व्यञ्जना सूर के मुक्तकों की विशेषता है।

यह व्यञ्जना प्रभावशाली इसलिए हुई है कि कवि ने रस या भाव के पोषक आलम्बन-उद्दीपन तथा अनुभाव की योजना में पर्याप्त व्यापार-शोधन किया है। चुन चुन कर ऐसे विशिष्ट दृश्यों या व्यापारों की योजना की है जिनसे अभीष्ट भाव या रस की निष्पत्ति सहज ही हो जाए। प्रसंग, परिस्थिति और भाव की दृष्टि से सूर के पद प्रायः अपने आप में पूर्ण हैं। संगीत के सहयोग से इनकी सरसता और भी बढ़ गई है। सूर का संगीतज्ञान प्रायः सदैव रसपरिपाक में सहायक हुआ है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' के अनुसार सूर गानविद्या में निपुण थे। इसलिए, सूरसागर में शायद कोई भी राग या रागिनी छूटी न होगी।

इस प्रकार हमने देखा, प्रगीत मुक्तक की ये सभी विशेषताएँ सूर-साहित्य में मिलती हैं—

१. व्यक्तिगत भावना।

२. एक गीत में एक ही व्यापक भाव जो अपनी संगति के लिए अन्य गीतों की अपेक्षा न रखे।

३. भावना का चरम वेग।

४. संगीतात्मक प्रवाह।

५. संक्षेप।

तुलसी के समान सूर ने कोई महाकाव्य नहीं लिखा, मुक्तक गेय पदों की माला पिरोई है। सूर-सागर के अधिकतर पद अपने आपमें पूर्ण और एक दूसरे से स्वतंत्र, किसी एक वेगवान वैयक्तिक भाव से दीप्त, संगीत के स्वरों

में बद्ध और संक्षिप्त हैं। फिर भी उन पदों में एकसूत्रता या शृंखला का अभाव नहीं। यह धारणा गलत है कि सूर की कविता चूंकि मुक्तक पद-शैली में है, इसलिए प्रबन्धकाव्य की तरह दृश्यवर्णन, घटना-विकास, परिस्थिति-निर्माण और चरित्र-चित्रण के लिए उसमें जगह नहीं। सच तो यह है कि सूर के पद मिल कर राधा, कृष्ण, गोपियाँ, नन्द, यशोदा, उद्धव आदि की संश्लिष्ट चरित्र-रूपरेखा तो तैयार करते ही हैं, दृश्यों, परिस्थितियों और खण्ड-कथानकों की उद्भावना भी करते हैं। प्रबन्ध और मुक्तक की विशेषताओं के इसी सुखद सामञ्जस्य में सूर के रचना-विधान का कौशल निहित है।

सूर-सागर में दृश्य-योजना और वर्णन-विस्तार वहाँ मिलेंगे जहाँ कृष्ण के अन्नप्राशनादि संस्कार, रासलीला, हिंडोल-लीला, वसन्त और होली के उत्सवों का वर्णन है। घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन खण्डकथानकों में मिलेगा। ब्रह्माबालवत्सहरण, कालियदमन, गोवर्द्धन लीला, चीरहरण लीला, दानलीला, श्रीकृष्ण विवाह और रासलीला, मानलीला तथा भ्रमरगीत प्रसंग इसके उदाहरण हैं। इन कथानकों में से कई का वर्णन दो-दो बार हुआ है; एक बार वर्णनात्मक प्रबन्ध शैली में जहाँ कथा का सुशृंखल रूप प्रस्तुत करना उद्देश्य मालूम होता है; दूसरी बार गीतात्मक पद-शैली में जहाँ कथा-निरपेक्ष ढंग से प्रत्येक भाव-दशा में पाठकों को तन्मय करना कलाकार का अभीष्ट जान पड़ता है। उनके गेय पद भी कई प्रकार के हैं—कथानक-सम्बन्धी, सामान्य चरित-सम्बन्धी, विशिष्ट क्रीड़ा या लीला-सम्बन्धी, रूपचित्रण या मुरली-वादन सम्बन्धी, प्रभाव-वर्णन-सम्बन्धी और भावचित्रण-सम्बन्धी। हाँ, यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि सूर की प्रतिभा लीला, रूपचित्रण, मुरली और भावचित्रण-सम्बन्धी गेय पदों में ही अपने चरम शिखर पर दीखती है। सूर-साहित्य मानव-मर्म को छूनेवाले विविध भावों का ही नहीं, इन भावों को सहज ही जगा देनेवाली मनोहारिणी लीलाओं का भी खासा भण्डार है।

प्रश्न यह है कि सूर यद्यपि व्रजभाषा के प्रथम कवि कहे जाते हैं फिर भी इतनी कलात्मक ऊँचाई तक वे कैसे पहुँच सके। क्या उसमें परम्परा का कोई हाथ नहीं ?

गीतिकाव्य का प्रेरणा-स्रोत :—यों तो, गीतिकाव्य के बीज वेदों में वर्त्तमान हैं। सामवेद के रथन्तरादि गीत यज्ञों के असवर पर गाए जाते थे। उषा, मरुत आदि के प्रति भावुक आर्य ऋषियों के उद्गार में वैयक्तिकता के साथ-साथ चरम रागात्मकता भा थी। धार्मिक अनुष्ठानों के सिवा पर्व त्योहारों

के अवसर पर भी गीत गाए जाते थे। फिर भी सूर के समान पदशैली में गीतों का आरम्भ बहुत बाद में हुआ होगा। वज्रयान शाखा के बौद्धों की कुछ रचनाएँ संगीति के रूप में मिलती हैं। अपभ्रंश में तीन प्रकार के काव्य-रूप अधिक प्रचलित थे—

१. दोहाबन्ध २. पद्धड़ियाबन्ध ३. गेयपदबन्ध। 'रासक डोम्बिका' और 'सन्देशरासक' जैसी गेय रचनाएँ अपभ्रंश भाषा के ग्राम्य और लोक-प्रचलित रूप में मिलती हैं। इससे यह तो पता चलता ही है कि पदशैली या गीतों का प्रचलन पहले लोकभाषा या देशभाषा में हुआ होगा और तब परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा में। बाद के हिन्दी साहित्य में 'रासो' कहे जानेवाले ग्रन्थों में भी गेय पद मिलते हैं। पर सूर के मुक्तक इनकी नहीं, जयदेव और विद्यापति के गीतों की परम्परा में माने जाएँगे। संस्कृत में जयदेव ने गीतों की प्रेरणा लोकभाषा से ग्रहण की होगी। इस प्रेरणा-परम्परा में विद्यापति के साथ सूर का नाम लिया जायगा अवश्य, लेकिन गीत-सौष्ठव में सूरदास जयदेव और विद्यापति दोनों से विशिष्ट हैं। कारण, सूर ने जयदेव की कोमलकान्त पदावली तो ग्रहण कर ली, पर अनुप्रास की अपेक्षा अपना ध्यान भाषा की स्वाभाविकता की ओर अधिक रखा। मुहावरों और कहावतों के साथ व्यंग्य का अनोखा पुट सूर की भाषा को जानदार बना देता है।

भाषाशैली :—सूर की कविता में अलंकारों की शोभा खूब निखरी हुई है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार उनके द्वारा वर्णित विषयों में विविधता की कमी की पूर्ति अलंकारों की प्रचुरता द्वारा हो जाती है। अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक और प्रसंग के अनुकूल हुआ है।

जब हम सूर की भाषा पर ध्यान देते हैं, तो आश्चर्य होता है। सूरदास ब्रजभाषा के पहले कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं, फिर भी उनकी भाषा इतनी मजी हुई, शक्ति-शाली और साफ-सुथरी है कि सूरदास का काव्य बहुत दिनों से चली आती हुई किसी काव्य-परम्परा का चरम विकास-सा लगता है। सूरसागर की भाषा प्रायः सर्वत्र सरल और व्यञ्जक है। हाँ, साहित्य-लहरी में दृष्टिकूट शैली के उपयोग के कारण दुरूहता आ गई है।

इस प्रकार सूर के मुक्तकों में सौन्दर्य, प्रेम और आनन्दोल्लास की ऐसी प्राणमयी धारा प्रवाहित है जिसके कारण सूर मध्ययुग के नैराश्यपूर्ण वातावरण से प्रसूत जीवन के प्रति उदासीनता को धो बहाने में समर्थ हुए।

———

सूर-साहित्य में रहस्यवाद

रहस्यवाद के संबन्ध में जो भ्रान्त धारणाएं फैली हुई हैं, उसका एक परिणाम यह भी हुआ है कि कुछ विद्वानों (?) ने सूर-तुलसी-मीरा जैसे सगुण वैष्णव भक्तों की रचनाओं में भी रहस्यवाद देखने का प्रयत्न किया है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वैष्णव भक्ति के आधारभूत उपनिषदों के ब्रह्मवाद तक में रहस्य-भावना ढूँढ़ निकालने के प्रयास से इस प्रयत्न को बल मिल गया है[1]। एक आलोचक ने तो सूर के काव्य में रहस्यवाद का अस्तित्व स्वीकार करते हुए अपने मन्तव्य की पुष्टि में सूर की पंक्तियाँ भी उद्धृत की हैं। उक्त आलोचक का कथन है कि—"सूरसागर के कुछ पद सगुण रहस्यवाद के सुन्दर उदाहरण हैं। ······यों तो भगवान् की सारी लीला ही रहस्यात्मक है। ······इसीलिए सूरदास ने अनेक पदों में भगवान् की लीला और उनकी अनुकम्पा के प्रति आश्चर्य प्रकट किया है।

परन्तु यहाँ हमारा तात्पर्य उन पदों में से है जिनमें भक्त की आत्मा (?) भगवत्-वियोग के दुःख से कातर होकर एक अलौकिक, अकथित रहस्यलोक की सृष्टि की है। निर्गुण संतों का रहस्यवाद मूर्त्तचित्रों की उपेक्षा करता है परन्तु भक्त सूरदास के रहस्यवादी पदों में भी मूर्त्त चित्र स्पष्ट रूप से आते हैं।"[2]

---

१. It is true of much in the Upanishads that it is seeking to discover the relations of man with the universe rather than his relation with God......In the broad lines of its aspirations, however—its craving for an ultimate unity, a craving often filled with deep emotions, its discontent with the finite, its conviction that the deepest within is nearest akin to what is highest above—its value as mysticism is unchallenged.

—*N. Macnicol in The Encyclopaedia of Religion & Ethics.*

२. **सूरसागर का रहस्यवादी पक्ष : सूर-साहित्य की भूमिका; पृ० २०५ डा० रामरतन भटनागर (१९४५ संस्करण)।**

आइए, हम इस कथन की संगति पर विचार करते हुए सूर-साहित्य में रहस्यवाद के अस्तित्व के संबंध में थोड़ी छानबीन कर लें। उक्त कथन में 'ने' संबंधी भाषागत अशुद्धि को तो प्रेस के भूतों के मत्थे मढ़कर पिंड छुड़ाया जा सकता है। अत: हम लेखक के मन्तव्य पर ही विचार करें। उन्होंने रहस्यवाद की स्पष्टत: दो कोटियाँ मानी हैं—निर्गुण रहस्यवाद की, और सगुण रहस्यवाद की। लेखक के विचार में रहस्यवाद के लिए अव्यक्त या परोक्ष आलंबन की आवश्यकता नहीं, क्योंकि सगुण वैष्णव भक्ति का आलंबन तो इस व्यक्त जगत् के बीच अपनी लीला का प्रसार करता ही है; आवश्यक इतना ही है कि कविता में 'अलौकिक, अकल्पित रहस्यलोक की सृष्टि' की जाए। रहस्यवाद में रहस्य तो होगा ही। पर रहस्य का अर्थ यहाँ क्या है? और अलौकिक, अकल्पित आदि विशेषणों के आशय क्या हैं? प्राचीन आचार्यों ने रस को अलौकिक माना है, रहस्य (या रहस्यलोक) को नहीं।

सूर के जिन पदों में लेखक ने सगुण रहस्यवाद देखा है उन में से एक निम्नोद्धृत है—

(१) चकई री! चलि चरन-सरोवर जहाँ न मिलन वियोग।
निसिदिन राम राम की वर्षा, भय रुज नहिं दुख सोग।
जहाँ सनक से मीन, हंस शिव, मुनि-जनरव रविप्रभा प्रकाश।
प्रफुलित कमल निमिष नहिं ससिडर गुंजत निगम सुवास॥
जहि सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल सुकृत अमृत-रस पीजै।
सो सर छाड़ि कुबुद्धि विहंगम! इहाँ कहाँ रहि कीजै॥[1]

उक्त लेखक के अनुसार इसमें 'आदर्श-रहस्यमय लोक की कल्पना' है और परोक्ष जगत् की धुंधली-सी झलक दिखलाई गई है।' इसीलिए इस पद में रहस्यवाद हो गया!!

यदि किसी तरह सूरदास के काव्य में रहस्यवाद का अस्तित्व ही सिद्ध करना है तो फिर हम क्यों न कहें—सूर की भक्ति एकांतिक है। 'रहस्' का शाब्दिक अर्थ है 'एकांत', 'रहस्य' का ऐकान्तिक' हुआ। अत: सूर रहस्यवादी हुए। पर यह कुतर्क होगा। क्योंकि रहस्यवाद का जो सर्वसम्मत रूढ़ अर्थ है वह कुछ और है। वह है—अव्यक्त या परोक्ष सत्ता के प्रति कवि या साधक का आकुल प्रणय-निवेदन। कवि के प्रणय का आलंबन अव्यक्त, परोक्ष, असीम,

१. सूरसागर। स्कंध १। पद १८४ (सभासंस्करण)

अनन्त, निर्गुण आदि होना चाहिए। व्यक्त के प्रति प्रणयोद्‌गार व्यक्त करने में रहस्यमयता नहीं। सूरदास के ऊपर उद्‌धृत पद में अन्योक्ति पद्धति से सूर ने जिन चरणों के प्रति संकेत किया है वे सगुण ब्रह्म (कृष्ण) के चरण न होकर अव्यक्त के प्रतीक हैं—ऐसा मानने का कोई आधार नहीं। 'चकई' कवि के मन या जीवात्मा का प्रतीक है—यहाँ प्रस्तुत (जीवात्मा) के बदले अप्रस्तुत (चकई) के कथन में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है। वेदों में भी जीव और ब्रह्म के संबंध-निरूपण के लिए रूपकातिशयोक्ति अलंकार का सहारा लिया गया है—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥"
—ऋग्वेद। प्रथम मण्डल। १६४ वाँ सूक्त।

[दो पक्षी—(जीवात्मा और परमात्मा) मित्रता के साथ एक ही वृक्ष में रहते हैं (वृक्ष = शरीर)। इनमें एक (जीवात्मा) स्वादु पिप्पल (कर्मफल) का भक्षण करता है और दूसरा (परमात्मा) कुछ भी भोग नहीं करता, केवल द्रष्टा है।]

रूपकातिशयोक्ति होने मात्र से उक्त मंत्र में रहस्यवाद तो नहीं माना जा सकेगा। हाँ, अमूर्त्त प्रस्तुत के लिए मूर्त्त अप्रस्तुत के विधान में साम्प्रदायिक या अन्य रूढ़ि की पीठिका में, प्रतीकवाद माना जा सकता है। रहस्यवाद नहीं, प्रतीकों का प्रयोग सूरदास ने भी किया है। स्वयं कृष्ण परब्रह्म के प्रतीक हैं, राधा प्रकृति-स्वरूपा है, मुरली योगमाया है; रास ब्रह्म और जीवों का अभिज्ञान सम्मेलन है तथा चीर-हरण, दानलीला, मानलीला आदि प्रसंगों के भी रूपकात्मक अर्थ हैं, ऐसा कहा गया है।

कथित आलोचकों ने अन्य जिन पदों के प्रमाण उपस्थित किए हैं, उन सभी पदों में प्रतीक-योजना मात्र है, रहस्यवाद नहीं। इस पद को लीजिए—

चलि सखि, तिहिं सरोवर जाहिं।
जिहि सरोवर कमल कमला रवि नहीं विकसाहिं॥
हंस उज्ज्वल पंख निर्मल अंक मिलि मिलि न्हाहिं।
मुक्तिमुक्ता अंबु के फल तिन्हैं चुनि चुनि खाहिं॥
अतिहि मगन महा मधुर रस रसन मध्य समाहिं।
पद्‌मबास सुगंध शीतल लेत पाप नसाँहि॥

सदा प्रफुलित रहै जल बिनु निमिष नहिं कुम्हलाहिं।
देखि नीर जो छिलछिले अति समुझि कछु मन माँहिं॥
सघन गुंजत बैठि उन पर भौंर हैं बिरमाँहि।
सूर क्यों नहिं चलो उड़ि, तहाँ बहुरि उड़िबो नाहिं॥

इसमें 'सखि' सम्बोधन आत्मा के लिए है। यहाँ रूपकातिशयोक्ति अलंकार अथवा प्रतीक योजना ही हम मान सकते हैं। 'सखि' और 'सरोवर' शब्द क्रमश: आत्मा और ब्रह्म के प्रतीक अवश्य हैं, किन्तु ब्रह्म निर्गुण ही है, अव्यक्त ही है—यह नहीं कहा जा सकता। साथ ही, आत्मा और ब्रह्म के बीच उस प्रकार का दाम्पत्य या माधुर्य भाव-समन्वित प्रेम-सम्बन्ध की अभिव्यंजना भी इस पद में नहीं जो रहस्यवाद का एक अनिवार्य उपादान है।

आलोचक द्वारा आगे ये दो पद उद्धृत किए गए हैं—

(१) भृङ्गी री भजि चरण-कमल पद जहँ नहिं निशि को त्रास।
जहँ विधि भानु समान प्रभा नख सो वारिज सुखरास॥
जिंहि किंजल्क भक्ति नव लक्षण याम ज्ञान रस एक।
निगम सनक सुक नारद सारद मुनिगन भृङ्ग अनेक।
सिव विरंचि खंजन मन रंजन छिन छिन करत प्रवेस।
अखिल कोस तहँ बसत सुकृत जन प्रगटत स्याम दिनेस।
सुनु मधुकरी भरम तजि निर्भय राजिव रवि की आस।
सूरज प्रेम सिंधु में प्रफुलित तत चलि करे निवास॥[1]

(२) सुवा चलि तो बन को रस पीजै।
जा बन राम नाम रस अमृत स्रवण पात्र भरि लीजे।
को तेरो सुत पिताहू काको घरनी घर को तेरो।
काम कराल स्वान को भोजन हू कहै मेरो मेरो।
बड़ी वारानसी मुक्ति छेत्र है चलि तोको दिखराऊँ।
सूरदास साधुन की संगति बड़ी भाग्य जो पाऊँ॥[2]

इन पदों में भृङ्गी और सुवा आत्मा के प्रतीक हैं। रूपक द्वारा भक्ति और भक्तों की विशेषताएँ प्रकट की गई हैं। दोनों पदों में प्रधान भाव

१ सूरसागर। स्कंद १। पद १८६। सभा सं०।
२ सूरसागर। स्कंद १। पद १८७। सभा सं०।

दाम्पत्य रति नहीं, भगवद्भक्ति से स्नात निर्वेद है। अतः रहस्यवाद के लिए गुंजाइश इन पदों में भी नहीं।

ऐसे पदों के सम्बन्ध में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है—कभी कभी सूर की कल्पना भी रहस्यवादी कवियों के समान आदर्श लोक की ओर संकेत करती है। इसके बाद—'चकई री! चलि चरण सरोवर, जहाँ न प्रेम वियोग' वाला पद उदाहरण रूप में उद्धृत है[1]। किन्तु, इस उद्धरण के बाद तत्काल शुक्लजी ने इस भ्रम की सभावना का निराकरण कर दिया है कि उक्त पंक्तियों में रहस्यवाद की बू-बास है—"पर एक व्यक्तिवादी सगुणोपासक कवि की उक्ति होने के कारण इस चित्र में वह रहस्यमयी अव्यक्तता या धुँधलापन नहीं है। कवि अपनी भावना को स्पष्ट और अधिक व्यक्त करने के लिए जगह जगह आकुल दिखाई पड़ता है। इसी से अन्योक्ति का मार्ग छोड़ जगह जगह उसने रूपक का आश्रय लिया है[2]। शुक्ल जी की इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि वे सूर के उपर्युक्त पदों में रहस्यवाद की स्थिति नहीं मानते, केवल रहस्यवादी कवियों जैसा आदर्श लोक की ओर संकेत भर मानते हैं।

यों, शुक्ल जी ने रहस्यवाद के कई प्रकार बतलाए हैं—साधनात्मक-भावात्मक, साम्प्रदायिक-स्वाभाविक आदि। प्रेममूलक रहस्यवाद को वे साम्प्रदायिक मानते हैं, क्योंकि अज्ञात या परोक्ष के प्रति प्रेम एक काल्पनिक साम्प्रदायिक धारणा मात्र है, स्वाभाविक भावना नहीं[3]। स्वाभाविक रहस्य-वाद जिज्ञासा-मूलक माना है उन्होंने, क्योंकि अज्ञात या परोक्ष के प्रति जिज्ञासा या कौतूहल ही वास्तव में संभव है।

इस दृष्टि से देखने पर सूर की कुछ पंक्तियों में कौतूहल और जिज्ञासा की भावनाएँ मिलेंगी, खासकर उन स्थलों पर जहाँ सगुण ईश्वर की लीला का वर्णन करते करते उसके निर्गुण, निराकार और अव्यक्त रूप के प्रति संकेत हैं। ऐसे स्थलों पर काव्य में अलौकिक तत्व का समावेश शास्त्रीय दृष्टि से अदभुत रस के लिए भूमिका प्रस्तुत करता है, और साम्प्रदायिक अथवा दार्शनिक दृष्टि से ब्रह्म के स्वरूप की पूर्ण इयत्ता का निर्देश करता है—कि ब्रह्म सगुण ही नहीं, निर्गुण भी है, यद्यपि भक्त ने या कवि ने उसके सगुण

---

१ सूरदास—पं० रामचन्द्र शुक्ल

२ सूरदास—पं० रामचन्द्र शुक्ल पृ० ११८

३ जायसी ग्रंथावली की भूमिका—पं० रामचन्द्र शुक्ल।

रूप का गान करना ही श्रेयस्कर समझा है। ऐसे पदों के कुछ उदाहरण देखिए—

(१) कर पग गहि अंगुठा मुख मेलत।···
सिव सोचत, बिधि बुद्धि बिचारत, वट बाढ़यो सागर जल झेलत।
बिडरि चले घन प्रलय जानिकै दिगपति दिगदन्तिय न सकेलत॥

इन पंक्तियों में कृष्ण के अलौकिक महत्त्व की व्यञ्जना और सगुण के परे निर्गुण या विराट् सत्ता की ओर रहस्यमय संकेत हैं, किन्तु रहस्यवाद नहीं, क्योंकि अंतिम पंक्ति में कवि स्पष्ट कर देता है कि ब्रजवासी जन कृष्ण के सगुणरूप को ही देखते हैं जिसके प्रति उनका रागात्मक आकर्षण है—

उन ब्रजबासिन बात न जानी समुझे 'सूर' सकट पगु पेलत॥

(२) मथत दधि मथनी टेकि रह्यौ।
आरि करत मटकी गहि मोहन बासुकि संभु डर्यो॥
मंदर डरत सिंधु पुनि काँपत फिर जनि मथन करै।···

किन्तु, यशोदा तो (और साथ साथ कवि भी) कृष्ण की इस चेष्टा को दधि-मन्थन मात्र समझती है, समुद्र-मन्थन का विराट् उपक्रम नहीं। अतएव यशोदा के लिए कृष्ण अद्भुत रस के आलंबन यहाँ नहीं, वात्सल्य के ही आलंबन हैं—

सूरदास प्रभु मुग्ध जसोदा मुख दधि बिंदु गिरै॥

अतएव शुक्ल जी ने जिसे जिज्ञासामूलक रहस्यवाद कहा है, इन पंक्तियों में उसके लिए भी अवकाश नहीं। क्योंकि आलंबन परोक्ष या अज्ञात नहीं, उसकी एक एक हरकत प्रत्यक्ष और ज्ञात है।

सगुण कृष्ण की लीलाओं का वर्णन करते हुए कवि भूलता नहीं है कि कृष्ण परब्रह्म हैं, सर्वशक्तिमान हैं—

ठुमकि ठुमकि धरती पै रेंगत जननी देखि दिखावै॥
देहरि लौं चलि जात बहुरि फिर-फिर इतहो को आवै।
गिरि गिरि परत बनत नहिं नांघत सुनि मुनि सोच करावैं॥
बहु ब्रह्मांड करत छिन भीतर हरत बिलंब न लावै।
ताको लिए नन्द की रानी नानारूप खिलावै॥

किन्तु निर्गुण रूप से अधिक प्रिय है कवि को कृष्ण का सगुण रूप। कवि के प्रेम या भक्ति का आलंबन यह सगुण रूप ही है। अतः रहस्यवाद के लिए ऐसे स्थलों पर संकेत हैं।

साधनात्मक रहस्यवाद के लिए भी सूर साहित्य में गुञ्जाइश नहीं। साधनात्मक रहस्यवाद हठयोग और उसकी क्रियाओं अथवा अवस्थाओं के वर्णन में निहित माना गया है। सूरदास ने इन क्रियाओं-साधनाओं के वर्णन में कभी रस नहीं लिया। एक विद्वान मित्र ने एकबार यह सुझाव सामने रखा कि सूरदास के उद्धव वज्रयान की देन हैं और वज्रयानी सिद्धों का 'अवधूत' शब्द ही बदलके-बदलते 'उद्धव' हो गया है [अवधूत→औधूत→औधू→ऊधो→उद्धव]। किन्तु इस विकास-क्रम के पक्ष में पर्याप्त प्रमाण नहीं। उद्धव को वेदान्त के रूखे-सूखे अद्वैतवादियों का प्रतीक ही मानना उचित होगा। फलतः इस आधार पर भी सूर को साधनात्मक रहस्यवादी घोषित नहीं किया जा सकता।

वैष्णव भक्ति के अन्तर्गत ध्यान रखने की बात यह है कि यहाँ भक्ति और ज्ञान अलग-अलग चीजें रहीं—ज्ञान का काम भक्ति से नहीं लिया गया। उपनिषदों में भी ब्रह्म का व्यापक स्वरूप-ज्ञान कराकर ही मन को उपासना में प्रवृत्त करने का प्रयास है। भिम्न-भिन्न देवताओं का एक ब्रह्म में अन्तर्भाव निश्चयात्मिका बुद्धि ने किया, हृदय ने नहीं। किन्तु रहस्यवाद की सामान्य विशेषता यह है कि उसके अन्तर्गत ज्ञान का काम भक्ति या प्रेम से लिया जाता है। रहस्यवादी प्रेम के चरम उन्मेष में (बोध-वृत्ति द्वारा नहीं, वरन्) अपनी विशिष्ट स्वानुभूति (Intuition) द्वारा ब्रह्म का स्वरूपज्ञान उपलब्ध करता है। सामान्य बोधवृत्ति के परे विशेष प्रकार की स्वानुभूति द्वारा उपलब्ध होने के कारण यह ज्ञान भी असामान्य, अपूर्व और 'रहस्यमय' होता ह। वैष्णव भक्ति में उपास्य के स्वरूप-बोध के उपरान्त भक्ति होती है, अतः भक्ति का आलंबन अज्ञात नहीं होता, यह दूसरी बात है कि अपने पूर्ण रूप में वह ज्ञात न हो। अतएब वैष्णव भक्ति ऐकान्तिक होने पर भी आलंबन का स्वरूप-बोध ऐकान्तिक (अथवा गुह्य या रहस्य) नहीं होता। वैष्णव भक्त अपने प्रेम के आलंबन को लोक के बीच प्रतिष्ठित कर, जगत् के बीच उसकी लीला का प्रसार देखता है।

मीरा जैसी कृष्णोपासक भक्त साधिका जब सगुण आलंबन के साथ कहीं कहीं साधनात्मक रहस्यबाद का मिश्रण कर देती है तो यह मेल बैठता नहीं। मीरा का व्यक्तित्व पूर्णरूप से ऐसे पदों में ही निखरा है जो इस साधनात्मक रहस्यवाद के प्रभाव से मुक्त हैं।

सूरदास की प्रतीक शैली के कारण उन्हें रहस्यबादी मानने का भ्रम शायद इसलिए हो गया हो क्योंकि आज के युग में महादेवी आदि ने अपने काव्य में प्रतीकबाद को रहस्यवाद की शैलीगत विशेषताओं के बीच महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। पर इसीकारण प्रतीकवाद और रहस्यवाद को पर्याय-वाची मान सूर के काव्य में रहस्यवाद देखना—यह भी रहस्य-जीवी आलोचकों के लिए ही संभव है!

सूर-साहित्य का पुनर्मूल्यांकन

भरतमुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक और केशव से लेकर रामचन्द्र शुक्ल तक की चिन्तन-परम्पराओं से परिचित आज का सुधी आलोचक जब मध्यकालीन सगुण या निर्गुण धारा के भक्त कवियों का मूल्यांकन करने बैठता है तो अक्सर उससे एक भूल हो जाती है। वह भूल जाता है कि ये कवि मात्र कवि नहीं, भक्त भी हैं वरन भक्त पहले हैं, कवि बाद में; और यह, कि उनके भक्ति-सम्बन्धी दृष्टिकोण के निर्माण में धार्मिक सम्प्रदायों का अथवा दार्शनिक सिद्धान्तों का भरपूर हाथ है। सूर के जीवन, ग्रंथों, दार्शनिक विचारों आदि तथा तत्सम्बन्धी प्रामाणिक सामग्रियों पर तो डा० दीनदयालु गुप्त, डा० व्रजेश्वर वर्मा, डा० जनार्दन मिश्र, डा० मुँशीराम शर्मा, श्री प्रभुदयाल मीतल आदि ने अच्छा विचार किया है, पर उसके काव्यपक्ष पर अभीतक पं० रामचन्द्र शुक्ल के विचार ही अधिकतर दुहराए जा रहे हैं। किन्तु, सूर की आलोचना में स्वयं शुक्लजी ने भी उपर्युक्त भूल की है। सूर के काव्य को उपयुक्त, साम्प्रदायिक और दार्शनिक पीठिका में नहीं देखने का फल यह हुआ है कि शुक्ल जी के तत्सम्बन्धी परिणाम भ्रामक हो गये हैं।

उदाहरण के लिए हम उनके कुछ परिणामों पर विचार करें।

शुक्लजी के कुछ सैद्धान्तिक मन्तव्य ये हैं—

(१) प्रबन्धकार कवि गीतकार कवि से श्रेष्ठ है, क्योंकि—

(क) प्रबन्धकार कवि को जीवन के अधिक विस्तृत और व्यापक अध्ययन का अवसर मिलता है; तथा मानव-मन की अधिक-से-अधिक भाव-दशाओं और जीवन की अधिक-से-अधिक परिस्थितियों से अपने हृदय के रागात्मक सामञ्जस्य के प्रदर्शन का अवसर मिलता है।

(ख) वह कथाप्रसंग की व्यापक विविधता के बीच मार्मिक स्थलों की पहचान का परिचय दे सकता है।

(ग) वह शीलनिरूपण और चरित्रचित्रण का अवसर पाता है। गीतकार को गीत की लघु सीमा के कारण एक आश्रय (पात्र) में किसी मनोराग या वृत्ति को अनेक बार दिखलाकर उसे शीलरूप में प्रतिष्ठित करने का अवसर नहीं मिलता। प्रबन्धकार को परिस्थिति-बहुलता के कारण यह अवसर सहज ही मिल जाता है।

(घ) प्रबन्धकाव्य में कलाकार की प्रबन्ध-पटुता और संतुलित रचना-शक्ति की परीक्षा हो जाती है।

(२) काव्य में लोकमंगल की भावना का समावेश काव्योत्कर्ष का विधायक है। व्यक्तिगत उमंग-उल्लास के वर्णन से लोकहित या लोकरक्षा के प्रयत्नों के वर्णन अधिक महत्व रखते हैं। साहित्य में व्यक्ति के कर्म लोक-सेवा के रंग में रंगे दिखलाए जाएँ।

(३) कवि को सामाजिक या नैतिक मर्यादा का ध्यान अपनी रचनाओं में रखना ही चाहिए। अतिशय नग्न शृंगारवर्णन या अमर्यादित शृंगार-भावना अनुचित है। शृंगार का संयत वर्णन ही श्रेयस्कर है।

(४) प्रेम (या अन्य किसी मनोभाव) का ऐकान्तिक अथवा लोकबाह्य वर्णन ठीक नहीं। सामाजिक कर्त्तव्य की पीठिका में अन्य भावों से संबद्ध रूप में ही प्रेम का वर्णन होना चाहिए।

(५) नायिका और नायक के बीच प्रेम उभय पक्ष में सम और संतुलित हो। केवल नायिका या केवल नायक को विरह में दग्ध दिखलाना और दूसरे को पाषाणवत् अविचलित चित्रित करना स्वाभाविकता की दृष्टि से ठीक नहीं।

(६) भाव और शैली में परस्पर सौषम्य की रक्षा हो। छंदों का तमाशा दिखलाना या अलंकारों की अनुचित भरमार कर देना सर्वथा अनुपयुक्त है।

शुक्लजी की आलोचना-पद्धति की एक सीमा यह भी है कि वे पूर्व-निश्चित काव्य-सिद्धान्तों के आधार पर किसी रचना को परखते हैं, चाहे वे सिद्धान्त स्व-निर्मित ही क्यों न हों। इससे रचना के प्रकृत स्वरूप का उद्घाटन नहीं हो पाता और मूल्यांकन के परिणाम भ्रामक होते हैं। उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर (जो तुलसी की काव्यगत विशेषताओं के अनुकूल पड़ते हैं और संभवतः तुलसी-साहित्य पर ही आधार रखते हैं) जब सूर की परीक्षा शुक्लजी करते हैं तो सूर-साहित्य में निम्नलिखित सीमाएँ दिखाई देती हैं—

(१) सूर प्रबन्धकार कवि नहीं, उन्होंने मुक्तक पद लिखे हैं। फलत:—

(क) सूर का विषय-क्षेत्र अत्यन्त सीमित है—उन्होंने केवल जीवन के मधुर पक्ष (श्रृंगार और वात्सल्य) को ही लिया; सूर के काव्य का बीज-भाव केवल प्रेम (आनन्द की सिद्धावस्था) है, करुणा (आनन्द की साधनावस्था) नहीं। करुणा जब बीज-भाव होती है तो लोक में व्यक्ति के कार्य-प्रसार का अवसर मिलता है। सूर को यह अवसर नहीं मिला। अतएव, सूर अनेक परिस्थितियों का चित्रण न कर सके और न अनेक भाव-दशाओं से अपने हृदय का रागात्मक सामंजस्य ही दिखला सके। तुलसी इस दृष्टि से सूर से कहीं श्रेष्ठ हैं।

(ख) प्रबन्धश्रृंखला के अभाव के कारण मार्मिक परिस्थितियों की वैसी योजना सूर के काव्य में नहीं जैसी तुलसी के काव्य में है।

(ग) तुलसी के समान न तो सूर को शीलनिरूपण और चरित्रचित्रण का अवसर मिला है और न विषय-विस्तार के अभाव में वे चरित्रों की विविधता का प्रदर्शन कर सके हैं। सूर के काव्य में चरित्रों की सख्या अधिक नहीं। कृष्ण का चित्रण भी एकांगी हुआ है। सूर ने शक्ति, शील और सौंदर्य में केवल सौंदर्य को ही लिया।

(घ) सूर के काव्य में प्रबन्ध-कौशल का परिचय नहीं मिलता।

(२) लोकमंगल की भावना सूर के काव्य में पर्याप्त नहीं। कृष्ण के बाल्य-जीवन में तो पारिवारिक पक्ष की थोड़ी-सी झाँकी मिल भी जाती है, किन्तु आगे चलकर उनमें तुलसी के राम का लोकमंगलकारी स्वरूप नहीं देखने को मिलता। तुलसी के समान लोकव्यापी प्रभाववाले कर्मों का वर्णन प्राय: सूर में नहीं।

(३) श्रृंगार का कहीं-कहीं अमर्यादित वर्णन हुआ है। तुलसी का मर्यादित वर्णन सूर में नहीं।

(४) सूर का प्रेमपक्ष ऐकान्तिक है। उसमें लोकधर्म का स्थान नहीं।

(५) कृष्ण और गोपियों (अथवा राधा) का प्रेम संयोगपक्ष में तो संतुलित है, किन्तु वियोगपक्ष में वह नितान्त असंतुलित हो गया है। राधा और गोपियाँ ही विरह में जलती-तड़पती हैं, कृष्ण विरहाग्नि में लगभग नहीं ही जलते हैं। कृष्ण में विरह-विदग्धा गोपियों के प्रति थोड़ी-सी सहानुभूति मात्र के दर्शन होते हैं, प्रेमपीड़ा के नहीं। इससे कृष्ण का चरित्र तथा प्रेमवर्णन एकांगी रह गया है।

(६) भावपक्ष की सीमा तथा परिणामतः विभावपक्ष की भी अल्पता के कारण, सूर का वस्तु-वर्णन अत्यल्प होने के कारण, उन्होंने इस कमी की पूर्त्ति के लिए अप्रस्तुत पक्ष (अलंकार पक्ष) का अत्यधिक विस्तार कर दिया है जिससे विषय-शैली-सौषम्य जाता रहा है।

मेरा निवेदन है कि शुक्लजी के ये सूरसम्बन्धी परिणाम भ्रामक हैं और इस भ्रम का कारण है सूर के काव्य को केवल काव्य की दृष्टि से—उसकी दार्शनिक और साम्प्रदायिक पीठिका से अलग करके—देखना। तुलसी के लिए जो सैद्धान्तिक कसौटी उपयुक्त हो सकती है उसी पर सूर के काव्य को परखना व्यावहारिक समीक्षा की बहुत बड़ी भूल होगी। शुक्ल जी ने यही तो किया है। वस्तुतः शुक्लजी की समीक्षापद्धति पूर्णरूप से विवेचनात्मक नहीं, बहुत-कुछ आदर्शात्मक अथवा निर्णयात्मक थी।

हम सूर-साहित्य के ऊपर शुक्लजी के आक्षेपों को जब उपर्युक्त दार्शनिक-साम्प्रदायिक आलोक में देखते हैं तो वे निराधार सिद्ध होते हैं। उन आक्षेपों पर हम एक-एक कर विचार करें।

शुक्लजी ने सूर को प्रबन्धकार कवि नहीं माना है। किन्तु सूरसागर में मुक्तक पदों के साथ-साथ खण्ड-कथानकों की योजना भी प्रचुर है। जैसे—माखन चोरी, ऊखल-बन्धन और यमलार्जुनउद्धार का प्रसंग, कालियदमन-लीला, गोवर्द्धनलीला, रास-लीला, दान-लीला, मानलीला, चीरहरणलीला, भ्रमरगीत प्रसंग आदि। इन खण्ड कथानकों में से कई का वर्णन दो-दो तीन-तीन बार, कभी मुक्तक-पद शैली में, कभी-कभी वर्णनात्मक प्रबन्धशैली में हुआ है। यह ठीक है कि सम्पूर्ण सूरसागर एक संतुलित प्रबन्ध-काव्य नहीं है, किन्तु सूरसागर में प्रबन्ध-पटुता के दर्शन नहीं होते, यह कैसे कहा जा सकता है? सूर ने महाकाव्य नहीं लिखा, इसका कारण उनकी अक्षमता नहीं वरन् उनकी साम्प्रदायिक मान्यता है। वल्लभ-सम्प्रदाय के अन्तर्गत कृष्ण का जो रूप मान्य था उसका आधार था श्रीमद्भागवत, महाभारत नहीं। महाभारत में कृष्ण-जीवन की विराटता-विशदता के दर्शन होते हैं, श्रीमद्भागवत में मधुरता-कोमलता के। श्रीमद्भागवत के लीला-पुरुषोत्तम कृष्ण को लेकर महाकाव्य की रचना संभव नहीं थी। पर कृष्ण के इस व्यक्तित्व के कारण ही सूर को अधिक रसलीनता का अवसर मिला। सूर का भाव-गाम्भीर्य अन्य कवियों में प्रायः दुर्लभ है।

सूर को प्रबन्धकार कवि आप मानें या न मानें, यह कैसे कहा जा सकता है कि सूर में जीवन की विविध परिस्थितियों के चित्रण का अभाव है। यह ठीक है कि वे परिस्थितियाँ प्रबन्ध-शृंखला में परस्पर निबद्ध नहीं हैं, किन्तु स्वतंत्र रूप में ही वे कम मार्मिक नहीं हुई हैं। राधाकृष्ण का प्रथम परिचय एक मार्मिक परिस्थिति है जिसका निर्वाह सूर ने अद्वितीय कौशल के साथ किया है। इसी प्रकार मुरलीवादन द्वारा आकृष्ट गोपियों का जब कृष्ण तिरस्कार करते हैं तब गोपियाँ अपने को जिस परिस्थिति में पाती हैं, अथवा, जब भ्रमर गीत-प्रसंग में गोपियों के प्रेमातिशय्य से उद्धव पुलक-अभिभूत हो उठते हैं तो जिस परिस्थिति की अवतारणा होती है, वह भी मार्मिक है।

करुणा, ईर्ष्या, वीरता, क्रोध, ग्लानि आदि अधिक-से-अधिक भावदशाओं से अपने हृदय का रागात्मक सम्बन्ध सूर ने चाहे न दिखलाया हो, किन्तु, शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्रों में तो शुक्लजी के शब्दों में ही, "वे कोना-कोना झाँक आए।" सूर में विस्तार चाहे तुलसी जैसा न हो, गहराई तो किसी से कम नहीं। प्रेम के क्षेत्र में जितनी उद्भावनाओं का हृदयस्पर्शी चित्रण सूर के काव्य में मिलता है, उतना अन्यत्र नहीं। श्रीमद्भागवत के कृष्ण मधुर भावों के ही आलंबन हो सकते थे। श्रीमद्भागवत में वर्णित प्रसंगों के आधार पर विविध भावों की नुमाइश असंगत होती।

शीलनिरूपण और चरित्रचित्रण सूर-साहित्य में उत्तम है। मुक्तक पद-शैली में ही विविध प्रसंगों की जो अवतरण हुई है उसके कारण राधा-कृष्ण का चरित्र अनेक आलंबन-आश्रयों के सम्पर्क में आया है और फलस्वरूप मनोभावों की शील-रूप में प्रतिष्ठा संभव हुई है।

सूर में प्रबंधपटुता दिखलाने का शौक उतना न था जितनी अपने आराध्य के चरणों में भक्ति और प्रेम की पुनीत भावनाओं के निवेदन की तथा राधाकृष्ण के लीलागान की अभिलाषा थी। वे श्रीनाथ जी के मन्दिर में बहुत दिनों तक कीर्तन के लिए नियुक्त थे और इस सिलसिले में स्फुट लीला के पद रचते थे। गुरु वल्लभाचार्य ने उन्हें श्रीमद्भागवत दशम स्कंध की अनुक्रमणि का सुनाई थी जिससे उनके मन में भगवान् की लीला का स्फुरण हुआ था। लीला-स्मरण और कीर्तन उनका प्रधान उद्देश्य था, काव्यरचना गौण; अतएव प्रबन्धयोजना में संतुलन का अभाव सकारण है।

सूर-साहित्य में लोक-मंगल की भावना का समावेश उस अर्थ में नहीं हुआ है, जिस अर्थ में तुलसी के काव्य में। कारण है सूर का दार्शनिक और भक्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण, सूर की अक्षमता नहीं। सूर वल्लभाचार्य के शिष्य थे। दार्शनिक दृष्टि से वे शुद्धाद्वैतवादी थे तथा उनका साम्प्रदायिक दृष्टिकोण पुष्टिमार्गी था। पुष्टिमार्गी भक्ति की भावना में ऐकांतिकता और अनन्यता अनिवार्य हैं। एकमात्र भगवान् ही भक्त के लिए ध्येय और प्रेय हैं। भक्त और भगवान् के बीच लौकिक कर्तव्यों का कोई भी व्यवधान ठहर नहीं सकता। भगवान् के प्रति प्रेम उदय होते ही सारे लौकिक कर्तव्य-बंधन ढीले पड़ जाते हैं। इसीलिए तो गोपियाँ मुरलीनाद सुनते ही पति-पुत्रों की सुश्रूषा भूल, लोक लाज त्याग कृष्ण के संमुख आ उपस्थिति होती हैं। भक्त के लिए प्रेम से बढ़कर मंगल-धर्म और क्या हो सकता है? उसके लिए तो एक भगवान् ही सत्य हैं और सब कुछ मिथ्या। कृष्ण का अवतार राम के समान पृथ्वी को निशाचरों से खाली करने के उद्देश्य से ही नहीं हुआ है, वरन् असंख्य प्रेमविह्वल ऋषि-मुनियों, संतों-महात्माओं और भक्तों को (जिन्होंने गोपियों का रूप धारण किया है) प्रेमामृत पान कराने के उद्देश्य से भी हुआ है। कृष्णचरित्र आनन्द की साधनावस्था का नहीं, सिद्धावस्था का प्रतीक है। उनके व्यक्तित्व में करुणा का नहीं, प्रेम का उत्कर्ष है। अतएव लोकरक्षण के कार्यों (जैसे कालियदमन, गोवर्द्धन-धारण, कंसवध आदि) के साथ-साथ लोकरंजन संबंधी लीलाओं (जैसे बाललीला, रासलीला आदि) का भी प्रचुर वर्णन कृष्णचरित में आवश्यक हुआ।

सामाजिक या नैतिक मर्यादा की रक्षा तभी तक आवश्यक होती है जब तक हमारी भावना लोकसाक्षेप रहती है। किन्तु जब हमारी वृत्तियाँ पूर्णतया ईश्वरोन्मुखी हो जाती हैं तो सामाजिक मर्यादा-बन्धन निरर्थक ही नहीं, ईश्वरोपलब्धि में कभी-कभी बाधक भी हो जाते हैं। इसी हेतु गोपियाँ ही नहीं कृष्ण भी सामाजिक रूढ़ मर्यादा को तोड़ने में नहीं हिचकते। इन्द्रपूजन जैसे परंपरागत रूढ़ विधान को तोड़ वे इन्द्र का कोप तो मोल लेते ही हैं, चीरहरण प्रसंग में गोपियों को निर्वसन पास आने को विवश भी करते हैं। किन्तु अध्यात्मपक्ष में चीरहरण का विशेष अर्थ है—भक्त और भगवान का एकान्त मिलन, जिसमें किसी प्रकार का आवरण बाधक न हो। चीर और लज्जा का आवरण व्यक्ति या जीवात्मा के अहं का प्रतीक है। इस अहं का विसर्जन तभी होगा जब भगवान स्वयं अनुग्रह (पुष्टि) कर इस आवरण को दूर करेंगे।

भक्त के किए कुछ न होगा। पुष्टिमार्ग की इस मान्यता को भलकर उक्त प्रसंग में अश्लीलता या मर्यादा-हानि देखना उचित नहीं।

पुष्टिमार्ग में प्रेम की ऐकान्तिकता भी मान्य है। प्रेम (भक्ति) ही सबसे बड़ी सम्पत्ति है। प्रेम से बढ़कर कोई भी सामाजिक कर्त्तव्य नहीं। इसीलिए सूर-साहित्य में बार-बार प्रेम के आगे कर्म, ज्ञान और योग तक की पराजय उद्घोषित हुई है।

यह ठीक है कि वियोगपक्ष में गोपियाँ जितना विरह में तपती हैं, उतना कृष्ण नहीं ! कृष्ण उद्धव को भेजकर गोपियों के प्रति सहानुभूति तो दिखलाते हैं, पर प्रेमपीड़ा का वैसा ही अनुभव नहीं करते। किन्तु, इसका कारण है—सूर के कृष्ण परब्रह्म के प्रतीक हैं, गोपियाँ जीवात्माओं की। शुद्धाद्वैत के अनुसार ब्रह्म में सत्, चित और आनन्द तीनों का आविर्भाव रहता। जीव में सत्, चित् का तो आविर्भाव रहता है, किंतु आनन्द का तिरोभाव हो जाता है। अतएव ब्रह्म तो चिरानन्दमय है, उसे वियोग-वेदना सता ही नहीं सकती। कृष्ण को विरह में जलाने का अर्थ होता है परब्रह्म के इस आनन्द-तत्त्व का तिरोभाव दिखलाना जो शुद्धाद्वैत के अनुसार असंगत होता। अतएव विरहवेदना गोपियों के ही मत्थे पड़ी है, कृष्ण उससे अछूते रहे हैं। सूर के चरित्रों के इस आध्यात्मिक रूपकात्मक महत्त्व तथा शुद्धाद्वैत का पीठिका को ध्यान में नहीं रखने के कारण ही शुक्लजी को उनका प्रेम-वर्णन असंतुलित दिखाई पड़ा था। सच पूछा जाय तो यह असंतुलन नहीं, दार्शनिक विचारों से चरित्रचित्रण का सामंजस्य है।

यह ठीक है कि भावपक्ष के अन्तर्गत उन्होंने शृंगार और वात्सल्य को ही लिया है और विभावपक्ष में भी उनका वर्णन उन्हीं वस्तुओं तक सीमित है जो उक्त रसों के आलंबन या उद्दीपन के रूप में आ सकती हैं, जैसे राधा-कृष्ण, यमुना, करीलकुंज आदि। पर इसका वह अर्थ नहीं कि विभाववर्णन के सिलसिले में सूर ने वस्तुवर्णन की अपेक्षा अलंकार-योजना को अधिक विस्तार दिया हो; अर्थात् सूर में प्रस्तुत का वर्णन कम और अप्रस्तुत का अधिक है। सच तो यह है कि सूर का वस्तु-वर्णन सीमित होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म और विशद है। आलंबन के रूप में कृष्ण या राधा के वर्णन में अलंकारों की अनुचित भरमार नहीं, रूप का बहुविधि चित्रण ही विशेष है। कृष्ण या राधा के रूप तथा चेष्टाओं को अनेक प्रकार से सूर ने चित्रित किया है। अलंकार तो

केवल सहारा है, वस्तु के अनेक पहलुओं का उद्घाटन ही अभीष्ट है। कहा जा चुका है कि विषय-सीमा का कारण सूर का पुष्टिमार्गीय दृष्टिकोण और श्रीमद्भागवत का आधार है। अलंकारों का यदि आधिक्य भी है तो वह सकारण है—लीलावर्णन में अप्रस्तुत का अपेक्षाकृत अधिक सहारा आवश्यक हो जाता है जिसमें लीलाप्रभाव का वाणी द्वारा प्रतिनिधित्व संभव हो।

तुलसी की समन्वय-साधना

तुलसी की काव्य-सरिता पुनीत जाह्नवी की ही भाँति केवल अपने कल-कल-छल-छल के अनुपम सौंदर्य से ही तरंगित नहीं, वरन् पावनता और लोकोपकारिता के गुणों से भी समन्वित है। उसके तीरों पर सामाजिक जीवन केवल सौरभ और सुषमा से ही विभोर नहीं होता वरन् अपनी युगों की प्यास भी मिटाता है और अपनी चंचल चित्त-वृत्तियों को प्रशांत बनाने का भी अवसर पाता है। तुलसी-साहित्य का सृजन ही कुछ ऐसी परिस्थितियों का प्रतिफलन है! 'उसमें लोक-पावन आदर्श की प्रतिष्ठा एवं व्यापक समन्वयवाद की भावना अनिवार्य रूप से सन्निविष्ट है।'

आक्रमणकारियों द्वारा आक्रान्त हिन्दू भारत की शिराएँ कम्पित थीं, सोमनाथ के शिव-मन्दिर के ध्वंस और इस्लाम की क्रमशः विजय के परिणामस्वरूप हिन्दू जनता न केवल आत्मविश्वास ही खो चुकी थी, बल्कि उसका मूर्त्त ईश्वर पर से विश्वास भी बहुत-कुछ उठा जा रहा था। फलतः 'निरगुनियों की बानी' उनमें सुगमता से फैल रही थी। कबीर आदि निर्गुण सन्तों के स्वर में लोक धर्म और मर्यादा की उपेक्षा की रागिनी मिश्रित थी जिसका परिणाम समाज के लिए अन्ततः कल्याणकर नहीं हो सकता था। रहस्य-प्रधान निर्गुण पंथ में ईश्वर का जो रूप रखा गया वह सर्वसाधारण की पहुँच के बाहर की वस्तु थी। न तो सभी सन्त ही हो सकते थे और न ज्ञानी ही। परिणाम इसका यह होता था कि सच्ची धार्मिक भावनाओं से जनता दूर हटती जा रही थी और वितंडावाद बढ़ रहे थे, खंडन-मंडन का जोर था। शैव और वैष्णव साधुगण भी इस मनोवृत्ति से मुक्ति नहीं पा सके थे। सभी अपने मत का प्रचार और अपनी बातों का सिक्का जमाने के फेर में थे। और जनता जो

सदा नेताओं के हाथ की कठपुतली रही है—हठयोगी, तांत्रिक, शैव-शाक्तादि-मतोंके मायाजाल में पड़ वास्तविक धार्मिक दृष्टि से वंचित रखी जा रही थी।

उस समय तीन प्रमुख धाराएँ प्रचलित थीं—

१—प्राचीन परम्परागत परस्पर विद्वेषी तू-तू मैं-मैं पन्थी शैव-वैष्णवादि साधुओं की धारा,

२—अज्ञानी किंतु ज्ञानीमार्गी निर्गुणियाँ सन्तों की धारा, और।

३—हठयोगी, तांत्रिक, शैवशाक्त आदि जो अपने अलौकिक करिश्मों के बल से भोली जनता पर धाक जमाने की चेष्टा किया करते थे उनकी धारा।

'भक्तिमार्ग की इस उच्छृङ्खलता का कारण था, ज्ञान, कर्म और उपासना के त्रितय के समन्वय का अभाव। द्वितीय और तृतीय धारा वाले तो स्पष्ट रूप से लोक-धर्म-विरोधी थे। अंतः तुलसी ने उनके विरुद्ध आवाज उठाई।'

निर्गुण पंथियों के प्रति तुलसी की खुली चुनौती थी—

तुलसी अलखहिं का लखहिं, राम नाम जपु नीच।

इतने कड़े शब्दों का प्रयोग तुलसी जैसे विनीत प्रकृति वाले महात्मा के हृदय की तत्कालीन सामाजिक धार्मिक विशृंखलता-जनित वेदना का ही परिचायक है।

तुलसी ने अपने राम को लोक-व्यवहार के क्षितिज के पास लाने की चेष्टा की—और सगुण को निर्गुण से बड़ा घोषित किया—

'अन्तरजामिहिं ते बड़ बाहरजामिहँ राम विचार किए ते।'

प्रथम धारावालों के प्रति तुलसी का दृष्टिकोण समन्वयवाद का ही रहा। उनके इस व्यापक समन्वयवाद को हम तीन चार दृष्टियों से देख सकते हैं—

(१) ज्ञान, कर्म और उपासना में समन्वय।

(२) सगुण-निर्गुण समन्वय।

(३) प्राचीन परम्परागत परस्पर विद्वेषी तू-तू मैं-मैं वादी भिन्न-भिन्न प्रचलित मतों का समन्वय।

(४) लोक-पक्ष और भगवदाराधन में समन्वय।

पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'जिस प्रकार उन्होंने लोक-धर्म और भक्ति-साधना को एक में सम्मिलित करके दिखाया, उसी प्रकार कर्म, ज्ञान और उपासना के बीच भी सामञ्जस्य उपस्थित किया। 'मानस' के बालकांड में संत समाज का जो लम्बा रूपक है, वह इस बात को स्पष्ट रूप में सामने लाता है।'

ज्ञान और भक्ति के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। ज्ञान मस्तिष्क का विषय है, और भक्ति हृदय का। ज्ञान में निवृत्ति का मूल है, भक्ति में उपासना अथवा कर्म की प्रेरणा। ज्ञान की परिणति है शून्यता में, भक्ति का अन्तिम सोपान है इष्टदेव के चरणों में आत्मसमर्पण, व्यक्ति विसर्जन ! इतना अन्तर के अनन्तर भी दोनों में आन्तरिक अभेद का अस्तित्व अशेष नहीं हो जाता। मूलतः दोनों में तात्विक एकता है। भावात्मक ज्ञान ही व्यावहारिक क्षेत्र में चलकर कर्म अथवा उपासना का विषय बन जाता है। भक्ति भी ज्ञान का ही रागात्मक संस्करण है। मानव की चेतना मस्तिष्क का सहारा ले ज्ञान की रूपरेखा ग्रहण करती है। और वही हृदय-जनित अनुराग से सज्जित हो भक्ति की पूत निर्झरिणी के रूप में फूट निकलती है।

आन्तरिक तत्त्व-दृष्टि-विहीन धर्म-प्रचारक-गण इस मौलिक अभेद को न देखते हुए परमात्मा को व्यर्थ ही ज्ञान अथवा भक्ति की विशिष्ट परिधि में आबद्ध करते हुए वितंडावाद का प्रचार करते हैं। पर तुलसी-जैसे सहृदय भक्त एवं तत्त्वदर्शी इस तथ्य को समझते थे। अतः उन्होंने "ज्ञान और भक्ति का यह विरोध दूर कर धार्मिक परिस्थितियों में महान ऐक्य की सृष्टि की। ज्ञान भी मान्य है, पर भक्ति की अवहेलना करके नहीं। इसी प्रकार भक्ति का विरोध भी ज्ञान से नहीं। दोनों में दृष्टिकोण का थोड़ा-सा अन्तर है।"[1] गरुड़ द्वारा पूछे जाने पर कि—

> ग्यानहिं भगतहिं अन्तर केता।
> सकल कहौ प्रभु कृपा निकेता॥

कागभुसुंड ने कहा था—

> ज्ञानहिं भगतहिं नहिं कछु भेदा।
> उभय हरहिं भव संभव खेदा॥

फिर भी कुछ अन्तर है। और वह इतना ही है कि ज्ञान पुरुष है और भक्ति स्त्री। फलतः—

> मोह न नारि नारि के रूपा।
> पन्नगारि यह रीति अनूपा॥
> माया भगति सुनहु प्रभु दोऊ।
> नारि वर्ग जानहिं सब कोऊ॥

---

१ हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रा० कु० व० पृ० ५१०

भक्त को माया अपने मधुमय पाश में नहीं फँसा सकती, पर ज्ञानी को माया की शक्ति सदा ही सशंकित किया करती है। भगवान् को भी भक्त ही प्रिय है।

भगतहिं सानुकूल रघुराया।
ताते तेहि डरपति अति माया॥

भक्त को "रघुपति कृपा सपनेहु मोह न होई।"

ज्ञान की साधना कठिन उत्तुङ्ग हिमशृंग के समान दुरारोह्य है, पर भक्ति की पुनीत सुरसरि सर्व-सुलभ और सरस, तरल भी है। देखिए—

ग्यान कै पंथ कृपान कै धारा।
जौं निरबिघन पंथ निरबहई।
सो कैवल्य परम पद लहई॥

कलिकाल में तो यह नितान्त असंभव-सा ही है। अतः भक्ति अथवा राम-नाम ही एकमात्र सहारा है—

नहिं कलिकर्म न भक्तिविवेकू।
राम नाम अवलंबन एकू॥

यह भक्ति भी सेवक-सेव्य भाव से ही होनी चाहिए—

सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद-पंकज, अस सिद्धांत विचारि॥

इस प्रकार दोनों में कोई मौलिक विरोध नहीं बतलाते हुए भी भक्ति को ज्ञान से उन्होंने अधिक महत्ता प्रदान की। ज्ञान को भक्ति के अधीन भी बतलाया है। स्वयं श्री रामचन्द्रजी के मुख से सुन लीजिए—

जातें बेगि द्रवौं मैं भाई।
सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना।
तेहि अधीन ज्ञान विज्ञाना॥

रामचन्द्रजी अरण्यकाण्ड में नारद से बतलाते हैं कि भक्त उस बालक के समान है जिसकी रक्षा माँ अपनी ममता के अंचल से सतत किया करती है, परन्तु—

प्रौढ़ भए तेहि सुत पर माता।
प्रीति करै नहिं पाछिल बाता॥
मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी।

ज्ञानी वह प्रौढ़ है जिसे माता का उतना नैसर्गिक प्यार लब्ध नहीं।

तुलसी ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त भी भक्ति की उपेक्षा नहीं करने के पक्ष में थे—

पाएहु ग्यान भगति नहिं तजहीं।

ज्ञान और भक्ति "दोनों एक दूसरे पर अवलम्बित हैं, दोनों में किसी प्रकार का भी विरोध नहीं, यही तुलसीदास के भक्ति-ज्ञान प्रकरण का निष्कर्ष है।"[1] यह इस प्रकार स्पष्ट है:—

जे असि भगति जानि परिहरहीं।
केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृहत्यागी।
खोजत आक फिरहिं पय लागी॥

'केवल' शब्द ध्यान देने योग्य है। इस भाँति तुलसी ने ज्ञान और भक्ति का समन्वय चरितार्थ किया। उपासना भक्ति का ही कर्म-विधानात्मक रूप है।

इसी प्रकार तुलसी ने वैष्णव के व्यापक रूप में सगुण और निर्गुण की तात्विक एकरूपता पहचानी। सगुण-निर्गुण का यह समन्वय भी भक्ति और ज्ञान के समन्वय से ही सिद्ध है। ज्ञान सगुण-निर्गुण दोनों का हो सकता है, पर भक्ति के लिए तो साकार आधार की अनिवार्यता होती है। कबीर के निर्गुण राम भक्ति के विषय बनकर रहस्यमय हो गए थे, उनकी धूमिल रूपरेखा साधारण जन-समाज की पहुँच के बाहर की वस्तु हो गई। पर तुलसी ने वह कर दिखाया जो कबीर से नहीं बन पड़ा था। तुलसी के आराध्य निर्गुण होते हुए भी सगुण हैं। डा० रामकुमार वर्मा कहते हैं—

"वे अपने ब्रह्म को अद्वैतवाद के शब्दों में तो व्यक्त करते हैं पर उसे विशिष्टाद्वैत के गुण से युक्त कर देते हैं।"[2] देखिए—

एक अनीह अरूप अनामा।
अज सच्चिदानन्द परधामा॥
व्यापक विश्वरूप भगवाना।
तेहि धर देह चरित कृत नाना॥
सो केवल भगतन हित लागी।
परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥

---

१ वही। २ वही।

"यही एक अनीह और अरूप ब्रह्म भक्तों के लिए अवतार लेता है।" फलतः भक्ति का उपयुक्त आधार भी बन जाता है और कबीर की रहस्यमयता की आवश्यकता नहीं पड़ती।

अद्वैतवाद के रूप में तुलसी के ब्रह्म का स्वरूप देखिए—

गिरा अरथ जल बीचि सम
कहियत भिन्न न भिन्न।

× × ×

ईश्वर अंश जीव अविनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी॥

× × ×

निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहम्।
चिदाकाशमाकाशवासं भजेहम्॥

यही 'निर्गुणं निर्विकल्पं' ब्रह्म अवतार लेकर सगुण-साकार हो जाता है—

व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुण बिगत विनोद।
सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या के गोद॥

वस्तुतः सगुण और अगुण में कोई तात्विक भेद है ही नहीं—

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा।
गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

पर जो गुण रहित अज और अलख है, वह सगुण कैसे हो सकता है—

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे।
जल हिम उपल बिलग नहीं जैसे॥

तो सगुण और निर्गुण परमात्मा की स्थितियाँ विशेष हैं, दोनों में कोई व्यवधान अथवा विरोध नहीं। तुलसी ने निर्गुण की उपेक्षा नहीं की बल्कि लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित हो जन-साधारण के लिए सगुण की उपादेयता मात्र बतलाई। डा० रामकुमार वर्मा कहते हैं—

"तुलसीदास ने ब्रह्म की व्यापकता के लिए उसे अद्वैतवाद का रूप अवश्य दिया और उसे माया से समन्वित किया भी, पर वे उसे उस रूप में ग्रहण नहीं कर सके। वे भक्त थे, अतः भक्ति का सहारा लेकर उन्हें ब्रह्म को विशिष्टा-

द्वैत में निरूपित करना ही पड़ा।"[1] सगुण रूप में ही भक्ति सुलभ होने के कारण वे निर्गुण की सार्थकता सगुणता में ही मानते हैं। इसे व्यंजना द्वारा वे व्यक्त करते हैं--

फूले कमल सोह सर कैसे।
निरगुण ब्रह्म सगुण भए जैसे॥

फिर भी दोनों का विरोध-परिहार और समन्वय उन्होंने मार्मिक ढंग से सम्पन्न किया है।

तुलसी के समन्वयवाद का तीसरा पहलू है प्राचीन परम्परागत परस्पर विद्वेषी तू-तू मैं-मैं वादी भिन्न-भिन्न प्रचलित मतों का समन्वय, जिसके आधार पर वैष्णव धर्म का वह व्यापक रूप कल्पित किया गया जिसमें शैव, शाक्त और पुष्टिमार्गी सरलता से सम्मिलित हो गए। इस सम्बन्ध में डा० रामकुमार वर्मा कहते हैं—"मुसलमानी प्रभाव के अतिरिक्त तुलसीदास के सामने धर्म की समस्या विचित्र रूप में आई। उन्होंने गोंड गँवार नृपाल महि, यवन महा महिपाल' की विषम परिस्थिति में अपनी धार्मिक मर्यादा का आदर्श उपस्थिति करते हुए अनेक मतों और पन्थों से समझौता किया। तुलसीदास की यह कुशल नीति थी। उनके समय में शैव, शाक्त और पुष्टिमार्गी प्रधान रूप से अपने विचारों का प्रचार कर रहे थे और प्रत्येक क्षेत्र में वैष्णवों से प्रतिद्वन्द्विता कर रहे थे। तुलसीदास ने इनसे विरोध की नीति का पालन न कर उन्हें अपने ही आदर्शों में सम्मिलित कर लिया। तुलसीदास की इस सहिष्णु नीति ने धार्मिक भेदों का एकदम ही विनाश कर दिया। वैष्णवधर्म के इस सिद्धांत-संगठन ने हिन्दू धर्म को इस्लाम की प्रतिद्वन्द्विता में विशेष बल प्रदान किया।"[2]

इस धर्म-समन्वय को उन्होंनें किस प्रकार पूर्ण किया, वह भी देखिए। शिव और विष्णु में अभेद बतलाने के निमित्त वे स्वयं राम के मुख से कहलाते हैं —

करिहौं इहाँ संभु थापना।
मोरे हृदय परम कलपना॥

---

१ वही, पृ० ५०१
२ वही, पृ० ५०७

राम शंभु को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं और शंभु भी राम की उपासना करते नजर आते हैं। राम और शिव की भक्ति एक ही कही गई है। शिव-द्रोही को राम-भक्ति नसीब नहीं।

संकर विमुख भगति चह मोरी।
सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥
संकर भजन बिना नर,
भगति न पावै मोरि॥

शाक्तों से विरोध-शान्ति के निमित्त आदि-शक्ति के सम्बन्ध में उनकी उक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं—

नहिं तव आदि मध्य अवसाना।
अमित प्रभाव वेद नहिं जाना॥
भव भव विभव पराभव कारिनि।
विश्व विमोहिनि स्ववस विहारिनि॥

पुष्टिमार्गियों के दृष्टिकोण की भी वे उपेक्षा नहीं करते। राम-कृपा से ही प्राप्य भक्ति द्वारा ही मोक्ष-प्राप्ति का सिद्धान्त पुष्टिमार्ग से प्रभावित है। तुलसी की निम्नांकित पंक्तियों पर दृष्टिनिक्षेप कीजिए—

राम भगति मनि उर बस जाके।
दुख लवलेस न सपनेहुं ताके॥
चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं।
जे मनि लागि सुजतन कराहीं॥
सो मनि जदपि प्रकट जग अहई।
राम कृपा बिनु नहिं केहु लहई॥

राम के व्यक्तित्व में शैव, शाक्त, और पुष्टिमार्गियों के आदर्शों की पूर्ति कर तुलसीदास ने रामभक्ति में व्यापकता के साथ-ही-साथ शक्ति भी ला दी। "शैव और वैष्णवों की विचार-भिन्नता की समाप्ति तुलसीदास की लेखनी से हुई।" (रा० कु० व०)

इस प्रकार तुलसी ने अपनी भक्ति-पद्धति में सत्यं, शिवं, सुन्दरं का यथायोग्य समावेश और समन्वय किया जिसमें उन्होंने जगत की रूपात्मक और क्रियात्मक सत्ता के बीच भगवान की भावमयी मूर्ति की झाँकी दिखलाई। (रा० च० शु०) भक्ति के चरम उत्कर्ष पर पहुँचकर भी वे लोकपक्ष को

विस्मृत नहीं होने देते। उनके भगवान का रूप भी जनता के सामर्थ्य की परिधि के बाहर की वस्तु नहीं होने पाता।

याग-प्रधान ब्राह्मण-धर्म और नास्तिकता-प्रधान बौद्ध-धर्म की क्रिया-प्रतिक्रिया के प्रतिफलन-रूप में शांकर अद्वैत का जन्म हुआ था जिसमें उपासना-विधि स्थूल और सर्व-सुलभ नहीं थी। तुलसी ने इसी कमी की पूर्ति की, और नास्तिकता की ओर से जनता की मनोवृत्ति हटाकर आस्तिकता की अजस्र अमृतधारा में उन्हें स्नान कराया। भगवान् साम्प्रदायिकों की वस्तु नहीं होकर सर्व सुलभ हो गए—

> **सेस महेस सुरेस गनेस दिनेसहु जाहि निरन्तर ध्यावै।**
> **जाहि अनादि अनन्द अखंड अछेद अभेद सुवेद बतावै॥**
> **नारद से सुक व्यास रटैं पचिहारे तऊ पुनि पार न पावै।**
> **ताहि अहीर की छोहरिया छछिया भरि छाछपै नाच नचावै॥**
>
> **—रसखान।**

यह तो हुआ धार्मिक क्षेत्र में तुलसी का समन्वयवाद। पर व्यापक अर्थ में तुलसी की समन्वयशीलता का परिचय धार्मिक ही नहीं अपितु राजनैतिक, सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्र में भी हम पाते हैं। अत: संक्षेप में इन क्षेत्रों में भी तुलसी के समन्वयवाद का विवेचन कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

पहले साहित्यिक क्षेत्र को ही लें। "गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने समय में भाषा के दो रूप प्रचलित पाए—एक ब्रज और दूसरी अवधी। दोनों में उन्होंने समान अधिकार के साथ रचनाएँ कीं।"[१] शुक्लजी पुन: कहते हैं कि "ब्रजभाषा का जो माधुर्य हम सूरसागर में पाते हैं वही माधुर्य और भी संस्कृत रूप में हम गीतावली और कृष्णगीतावली में पाते हैं। ठेठ अवधी की जो मिठास हमें जायसी की पद्मावत में मिलती है वही जानकी-मंगल, पार्वती-मंगल, बरवा रामायण और रामलला नहछू में हम पाते हैं। न तो सूर का अवधी पर अधिकार था और न जायसी का ब्रजभाषा पर।" इससे स्पष्ट होता है कि तुलसी ही ऐसे व्यक्ति थे जिनमें ब्रजभाषा और अवधी को समान रूप से अपनाने की सहिष्णुता थी। इसी प्रकार उन्होंने सभी प्रचलित रचना-शैलियों पर अपनी लेखनी का जादू दिखाया। उस समय भाषा पद्य की निम्नांकित शैलियाँ प्रचलित हो चुकी थीं—

---

१ हिं० सा० का इ०—पं० रा० च० शुक्ल

१—वीरगाथा काल की छप्पय-पद्धति।

२—विद्यापति और सूर की गीत-पद्धति।

३—गंग आदि भाटों की कवित्त, सवैया-पद्धति।

४—कबीरदास की नीति सम्बन्धी बानी की दोहा-पद्धति जो अपभ्रंश काल से चली आती थी।

५—ईश्वरदास की दोहे-चौपाईवाली प्रबन्ध-पद्धति।

तुलसी ने अपनी प्रतिभा के बल से सभी पद्धतियों पर समान रूप से रचनाएँ कीं। उदाहरण दृष्टव्य हैं—

१—इस पद्धति पर उनकी रचना थोड़ी होते हुए भी इनकी निपुणता की परिचायिका है—

> कतहुं विटप भूधर उपारि परसेन बरक्खत।
> कतहुं बाजि सों बाजि मर्दि गजराज करक्खत॥
> चरन चोट चटकन चकोर अरि उर सिर बज्जत।
> विकट कटक विद्दरत वीर वारिद जिमि गज्जत॥

२—विद्यापति और सूर की गीत-पद्धति का तुलसी के हाथों और भी अधिक परिष्कार ही हुआ है। रस से पद-विन्यास का सामञ्जस्य दर्शनीय है—

> जौ हौं मा तुमते महँ ह्वै हौं।
> तो जननी जग में या मुख को कहाँ कालिमा ध्वै हौं?

कौशल्या के समक्ष भरत की आत्म-ग्लानि की व्यञ्जना कितनी सरल, स्वभाविक हुई है।

तुलसी ने सूर की शैली को ही नहीं, विषय को भी अपनाया। 'कृष्णगीतावली' में कृष्ण की लीलाओं का वर्णन तो किया ही है। 'गीतावली' में राम वर्णन भी सूरसागर के कृष्ण के अनुकरण पर किया गया सा ज्ञात होता है। "सूरसागर में जिस प्रकार गोपियों के साथ श्रीकृष्ण हिंडोला झूलते हैं, होली खेलते हैं" वैसे ही राम भी दिखाए गए हैं। (रा० च० शु०)

३—कवित्त-सवैया-पद्धति के नमूने भी देखिए—

> प्रबल प्रचंड बरिबंड बाहु दंड वीर,
> जातु जातुधान हनुमान लिए घेरि कै।
> × × × ×
> मारे लात तोरे गात भागे जात, हाहाखात,
> कहे तुलसीदास "राखि रामकी सौं" टेरिकै।

ठहर ठहर परे, कहरि कहरि उठें,
हहरि हहरि हर सिद्ध हँसे हेरि कै॥

४--नीति के दोहे मानस और दोहावली में भरे पड़े हैं। देखिए एक उदाहरण--

रीझि आपनी बूझि पर, खीजि विचार बिहीन।
ते उपदेस न मानहीं, मोह महोदधि लीन॥

५—जायसी की भाँति दोहे-चौपाई वाली प्रबन्ध-पद्धति तुलसी ने भी अपनाई, पर संस्कृतज्ञ एवं भावुक वैष्णव भक्त होने के कारण मानस का पद-विन्यास पद्मावत से अधिक सुसंस्कृत एवं मनोहर है। उदारहण के लिए मानस का कोई भी अंश देखिए--

अमिय मूरिमय चूरन चारू।
समन सकल भवरुज परिवारू॥

संस्कृत के तत्सम शब्दों की ऐसी वासन्ती छटा जायसी में कहाँ ?

वर्णित विषय के विस्तार की दृष्टि से भी तुलसी को हम समन्वयवादी कह सकेंगे। मानवजीवन के सभी पक्षों की व्यापक आलोचना अथवा विवेचन उनकी रचनाओं में हुआ है। इसी से पं० रा० च० शुक्ल कहते हैं कि--"भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि किसी को कह सकते हैं तो इन्हीं महानुभाव को।"

साहित्य-क्षेत्र में हमने तुलसी की समन्वयशीलता का प्रमाण देख लिया। अब सामाजिक क्षेत्र की ओर दृष्टि फेरें। यद्यपि ये वर्णव्यवस्था के पक्षपाती थे और सामाजिक साम्यवाद के विरोधी---

बादहिं शूद्र द्विजन सन, "हम तुम तें कछु घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रबर" आँख देखावहिं डाँटि॥

फिर भी इन्हें हम समन्ववादी इस दृष्टि से कह सकते हैं कि इन्होंने सामाजिक विशृंखलता और अनाचार दूर कर विभिन्न वर्णों की मर्यादा का आदर्श उपस्थित कर उनमें सामञ्जस्य उपस्थित करने का प्रयास किया। समन्वय की भावना सामाजिक एकरूपता अथवा साम्य में ही अनिवार्य रूप से विदित नहीं। समन्वय का अर्थ है मिलाप अथवा विरोध का न होना। मेरा विचार है कि तुलसी ने सामाजिक व्यवस्था में शान्ति और सदाचार के समावेश के निमित्त वर्णों और वर्गों की जो मर्यादा निर्धारित की, उसमें भी उनकी समन्वयवाद की मनोवृत्ति अन्तःप्रेरणा के रूप में काम कर रही थी।

राजनैतिक क्षेत्र में भी उनकी समन्वयशीलता हम इसी रूप में पाते हैं। राजा और प्रजा का वर्ग-विरोध जो हित-संघर्ष के परिणामस्वरूप आज भीषण रूप धारण कर चुका है, तुलसी ने सहज स्वाभाविक तौर से शमन करने का प्रयास किया था। राजा को जहाँ एक ओर प्रजा से अधिक अधिकार है और उसे ईश्वर का अंश बतलाया गया है, वहाँ दूसरी ओर प्रजा की भलाई के निमित्त राजा भी बन्धनों से खाली नहीं है। जहाँ अधिकार है वहाँ कर्तव्य भी है! राजा का धर्म प्रजा का सुख ही है—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

आज हम प्रजातन्त्र का आदर्श घोषित करते हुए अपने को गौरवान्वित मानते हैं। देखिए तुलसी के स्वर में भी उसी की गूंज है—

जौं पाँचहि मत लागइ नीका।
करहु हरषि हिय रामहिं टीका॥

राजा के कार्यों के लिए प्रजा की सम्मति उन्होंने अपेक्षित मानी है। राजा-प्रजा का विरोध ही नहीं रह जाता। दोनों एक-दूसरे के पूरक, हित-चिन्तक बन जते हैं। कुछ दिन पहले स्वदेश-प्रेम के लिए हमारे तरुण वीरों को राजदण्ड दिया जाता था। मातृभूमि की स्वतन्त्रता की कामना प्रकट करना भी जुर्म था, घोर अपराध था। पर देखिए, देश-भक्ति केवल प्रजा का ही गुण तुलसी ने घोषित नही किना, राजा तक को देश-भक्त होना अनिवार्य बतलाया। राम कहते हैं—

जद्यपि जग बैकुण्ठ बखाना।
वेद पुराना विदित जग जाना॥
अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ।

संक्षेप में, राजा को प्रजा का पालन, और दुष्टों का नाश करना चाहिए। अतः राजा-प्रजा का वर्ग-संघर्ष रह ही नहीं जाता। दोनों का हित एकाकार होकर सार्थक हो जाता है। इसी आदर्श की प्रतिष्ठा में तुलसी की राजनैतिक समन्वय की भावना है।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास ने १६ वीं सदी के विश्रृंखल वातावरण को अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के सहारे, अपने व्यापक

समन्वयवाद के द्वारा बदलने का स्तुत्य प्रयास किया। इस सम्बन्ध में श्रीमती महादेवी वर्मा की निम्नोक्त शब्दावली भी ध्यातव्य है--

"तुलसी जैसे अध्यात्मनिष्ठ आदर्शवादी ने जीवन की जितनी परिस्थितियों की उद्भावना की है, जितनी मनोवृत्तियों से साक्षात किया है--स्थूलतम उलझनों और सूक्ष्मतम समस्याओं का जैसा समाधान किया है और अध्यात्म को यथार्थ के जैसे दृढ़ बन्धन में बाँधा है वैसा किसी और से सम्भव न हो सका।"[1]

---

१ साहित्य-सन्देश, फरवरी १९४१ पृ० २७०

हिन्दी गद्य-शैली का सूत्रपात

हिन्दी साहित्य के पिछले एक सहस्र वर्षों के इतिहास का अधिकांश भाग पद्यशैली को लेकर चला है। आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल की सीमाओं के अन्दर गद्य लगभग नहीं के बराबर लिखा गया। कारण यह नहीं कि गद्य:भाषा का नितान्त अभाव था। कम-से-कम दैनन्दिन व्यवहार में तो गद्य का आश्रय ही लिया जाता रहा होगा। किन्तु साहित्य में गद्य-शैली में रचना की परिपाटी का अभाव था। गद्य का विकास आधुनिक काल में ही तेजी मे क्यों हुआ, इसके पहले क्यों नहीं हुआ, इसके भी कारण हैं। एक तो यह कि प्राचीन सामाजिक जीवन इतना सघन न था कि उसकी व्याख्यात्मक अभिव्यक्ति के लिए गद्य अनिवार्य हो। अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति, इतिहास आदि की आधुनिक शिक्षा की विशद् व्यवस्था न थी। रागात्मक अभिव्यक्ति के लिए पद्य ही अधिक उपयुक्त था। दूसरे, छापे की मशीन के अभाव में लोग अधिकतर स्मरण-शक्ति पर भरोसा करने को विवश थे। स्मरण रखने के लिए गद्य की अपेक्षा पद्य ही सुविधाजनक हुआ करता है। इसके अतिरिक्त बातों को सूत्रशैली में कहने की प्रथा थी और इसके लिए पद्य माध्यम ही अनुकूल पड़ता था। पद्य की स्वाभाविक श्रुति-मधुरता भी प्राचीन तथा मध्यकालीन रचयिताओं के लिए विशेष आकर्षण का कारण था। फलतः विकास तबतक नहीं हुआ जबतक आधुनिक काल की बदली हुई परिस्थितियों में वह अनिवार्य नहीं हो गया। यह १९वीं शताब्दी के पहले नहीं हुआ।

कुछ गोरखपंथी ग्रंथ, गोसाई विठ्ठलनाथ का 'शृंगार रसमंडन', गोकुलनाथ-कृत कही जानेवाली दो पुस्तकें—'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' नाभादास का 'अष्टयाम' आदि ब्रजभाषा में लिखे गए गद्य के नमूने इसके पूर्व भी मिलते हैं। पर ब्रजभाषा गद्य की यह

परम्परा खड़ीबोली की प्रतिद्वन्द्विता के कारण जीवित नहीं रह पाई। दिल्ली-मेरठ की खड़ीबोली इस युग में लगभग समस्त उत्तर भारत में बड़े वेग से फैल गई। कारण, अंग्रेजी राज्य के प्रभाव स्वरूप व्यापार का केन्द्र दिल्ली-लखनऊ से हटकर कलकत्ता चला आया। अतएव, दिल्ली-मेरठ की व्यापारी जातियाँ कलकत्ते की ओर बढ़ने के प्रयास में समस्त उत्तर भारत में फैल गईं। इनके साथ इनकी बोली खड़ीबोली भी फैली, आधुनिक युग में जब हिन्दी को नवीन सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति के लिए गद्य की आवश्यकता पड़ी तो खड़ीबोली की व्यापक बोध-गम्यता के कारण गद्यशैली के लिए इसे ही उपयुक्त समझा गया।

खड़ीबोली के अस्तित्व का प्रमाण तो चौदहवीं शताब्दी में ही खुसरो की पहेलियों में मिलता है। खड़ीबोली गद्य में भी अकबर के समय में ही गंग कवि ने 'चंद छंद बरनन की महिमा' नामक पुस्तक लिखी थी। पर, इसकी भाषा साफसुथरी नहीं। संवत् १७९८ में राम प्रसाद निरंजनी ने भाषा योग वाशिष्ट' नामक पुस्तक खड़ी बोली गद्य में लिखी। इसे हम परिमार्जित गद्य की प्रथम पुस्तक मान सकते हैं। इसकी भाषा का एक नमूना देखिए—

> "प्रथम परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है जिससे सब भासते हैं और जिसमें सब लीन और स्थित होते हैं..."

संवत् १८१८ में पं० दौलतराम ने खड़ीबोली गद्य में जैन-ग्रंथ 'पद्मपुराण' का अनुवाद प्रस्तुत किया। इसकी भाषा परिमार्जित तो नहीं पर तद्युगीन शिष्ट समाज के बीच बोली जानेवाली भाषा का परिचायक अवश्य है। 'योगवाशिष्ट' और 'पद्मपुराण' से यह पता चलता है कि उस समय खड़ीबोली को मुसलमानों ने जो अरबी-फारसी मिश्रित रूप दिया उससे बिल्कुल स्वतंत्र वह अपने प्रकृत रूप में भी विकसित हो रही थी।

इस विकास में युग की परिस्थितिओं ने साथ दिया। शासन की आवश्यकताओं का तकाजा था कि नवागत अंग्रेज शासक देश की प्रचलित भाषा को सीखते तथा अपने राज्य कर्मचारियों को सिखाते। अंग्रेजों ने इस तथ्य को समझा कि खड़ीबोली के उर्दू कहे जानेवाले अरबी-फारसी से प्रभावित रूप की अपेक्षा उसका शुद्ध देशी रूप ही अधिक व्यापक, स्वाभाविक और भावी गद्य-शैली के उपयुक्त है। अतएव, संवत् १८६० में फोर्ट विलियम कालेज कलकत्ता के हिन्दी-उर्दू-अध्यापक डा० गिलक्राइस्ट ने खड़ीबोली गद्य के इन दोनों रूपों में अलग अलग पुस्तकें लिखवाने की व्यवस्था की। उनकी देखरेख

में गुजरात के लल्लूलाल जी ने खड़ीबोली गद्य में 'प्रेमसागर' की रचना की और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि खड़ीबोली गद्य का विकास अंग्रेजों की ही प्रेरणा से हुआ। क्योंकि, लल्लूलाल के दो एक वर्ष पूर्व ही मुंशी सदासुखलाल ने ज्ञानोपदेश की एक पुस्तक लिखी थी और इंशा अल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' की रचना की थी। वस्तुतः हिन्दी गद्य के विकास का मूल कारण था, सामाजिक जीवन की नवीन आवश्यकताएँ।

इस प्रकार संवत् १८६० के लगभग चार लेखक देखने में आते हैं जो खड़ी-बोली गद्य के रूपविधान में लगे हैं—मुंशी सदासुख लाल, सैयद इंशा अल्ला खाँ, लल्लूलाल और पं० सदल मिश्र।

मुंशी सदासुख लाल का निवासस्थान दिल्ली था। संवत् १८०३ में इनका जन्म हुआ और १८८१ में देहावसान। थे उर्दू-फारसी के अच्छे लेखक और शायर थे। मुंतखबुत्तवारीख नामक पुस्तक में इन्होंने अपने सम्बन्ध में चर्चा की है। इनका खड़ीबोली गद्य-ग्रंथ, जो अपूर्ण है, विष्णुपुराण के किसी उपदेशात्मक प्रसंग पर आधारित है। इसमें जो गद्य का नमूना मिलता है वह न तो किसी अंग्रेज अधिकारी की प्रेरणा का फल है और न किसी दिए हुए नमूने पर लिखित। उन्होंने तत्कालीन प्रचलित शिष्ट भाषा को ही अपना लिया। शुक्लजी के शब्दों में, "यद्यपि वे खास दिल्ली के रहनेवाले अहले जबान थे पर उन्होंने अपने हिन्दी-गद्य में कथावाचकों, पंडितों, और साधुसंतों के बीच दूर-दूर तक प्रचलित खड़ीबोली का रूप रखा जिसमें संस्कृत शब्दों का पुट भी बराबर रहता था।" नमूना देखिए—

"विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कह के लोगों को बहकाइए और फुसलाइए और सत्य छिपाइए, व्यभिचार कीजिए और सुरापान कीजिए और धन-द्रव्य इकठौर कीजिए और मन को, कि तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिए। तोता है सो नारायण का नाम लेता है, परन्तु उसे ज्ञान तो नहीं है।"

सदासुखलाल ने गद्य-शैली का जो नमूना पेश किया वह हिंदुओं के बीच तत्कालीन प्रचलित भाषा का परिचायक तो अवश्य था पर उनकी भाषा वैसी ही है जैसी कथावाचक व्यास-गद्दी पर बैठकर कथा कहने के काम में लाते

हैं। भावी साहित्यिक शैली का आभास तो उससे मिलता है, पर पंडिताऊ-पन के कारण उनकी शैली पूर्ण परिष्कृत और साहित्यिक नहीं कही जा सकती।

भाषा का दूसरा नमूना 'रानीकेतकी की कहानी' में इंशाअल्ला खां ने पेश किया। इंशा उर्दू के अच्छे शायर और दिल्ली के निवासी थे जो बाद में लखनऊ चले आए थे। जन्म मुर्शिदाबाद में हुआ था जहाँ के नवाब के यहाँ इनके पिता, माशाअल्ला खाँ, हकीम थे। इंशा की मृत्यु संवत् १८७५ में हुई। इनकी पुस्तक 'उदयभान चरित' या 'रानी केतकी की कहानी' का रचनाकाल संवत् १८५५ और १८६० के बीच में माना जा सकता है। इंशा का भाषा-सबंधी आदर्श इन पंक्तियों से प्रकट होता है:—

"एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो।····· हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस, जैसे भले लोग—अच्छों से अच्छे—आपस में बोलते-चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँव किसी की न हो।"

इंशा अपनी भाषा को तीन प्रकार के प्रयोगों से बचाना चाहते थे—गँवारी अर्थात् ब्रजभाषा-अवधी से, बाहरी बोली अर्थात् फारसी-अरबी से और भाखापन अर्थात् संस्कृत के पदों से। पर वे भाषा सम्बन्धी अपने इस आदर्श का पूर्ण निर्वाह न कर सके। संस्कृत का पुट तो न आने पाया, लेकिन उर्दूपन शब्दों में ही नहीं, वाक्यविन्यास तक में घुस आया। नमूना देखिए—

"सर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ अपने उस बनानेवाले के सामने जिसने हम सब को बनाया और बात की बात में वह कर दिखाया जिसका भेद किसी ने न पाया।"

इस उदाहरण में विशेषण वाक्यखंड विशेष्य के बाद आए हैं जैसे उर्दू में आते हैं; तुक भी मिलता चलता है और भाषा की भंगिमा कुछ ऐसी है जो गंभीर प्रसंगों के लिए उचित नहीं। हाँ, यह भाषा हास्यव्यंग्य के लिए उपयुक्त है क्योंकि वह रंगीन, चुलबुली, मुहावरेदार और चलती है, कहीं-कहीं ठेठ भाषा का अत्यन्त सुन्दर रूप भी इंशा ने सामने रखा है—

"इस बात पर पानी डाल दो नहीं तो पछताओगी और अपना किया पाओगी, तुम्हारी जो कुछ अच्छी बात होती तो मेरे मुँह से जीते जी न निकलती, पर यह बात मेरे पेट में नहीं पच सकती। तुम अभी अल्हड हो, तुमने

अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूंगी तो तुम्हारे बाप से कहकर वह भभूत जो वह मुआ निगोड़ा भूत, मुछंदर का पूत अवधूत दे गया है, हाथ मुरकवाकर छिनवा लूंगी।"

इस समुदाय के तीसरे लेखक लल्लूलालजी हैं। ये आगरा निवासी गुजराती ब्राह्मण थे। इनका जन्म सवत् १८२० में हुआ, और मृत्यु संवत् १८८३ में हुई। ये संस्कृत नहीं जानते थे—ब्रजभाषा में लिखी कथाओं द्वारा पौराणिक वृत्तों तक इनकी पहुँच थी। खड़ी बोली हिंदी के अतिरिक्त ब्रजभाषा और उर्दू में भी इन्होंने गद्य लिखा। सिंहासन बत्तीसी, बैताल पचीसी, शकुन्तला नाटक और माधोनल इनकी उर्दू पुस्तकें हैं। 'राजनीति' नाम से ब्रजभाषा गद्य में हितोपदेश के आधार पर कुछ कहानियाँ लिखीं। ब्रजभाषा पद्य में इन्होंने दो संग्रह ग्रंथ प्रस्तुत किए, माधव विलास, और सभाविलास; तथा 'बिहारी सतसई' की टीका 'लालचन्द्रिका' नाम से की। सवत् १८६० में इन्होंने 'प्रेमसागर' नामक पुस्तक की रचना खड़ीबोली गद्य में की। इसमें श्रीमद्भागवत् पुराण के दशम स्कन्ध का वृत्त आया है। इन्होंने अपनी भाषा में फारसी-अरबी के शब्दों को भरसक बचाने की चेष्टा की है और प्राय: सफल भी हुए हैं। फिर भी, कहीं-कहीं विदेशी शब्द आ ही गए हैं। उदाहरण के लिए 'बैरक' शब्द को लीजिए, जो तुर्की का है। ब्रजभाषा का पुट तो इनकी भाषा में सर्वत्र मिलता है। सम्मुख जाय, सिरनाय, सोई, कीजै, निरख, लीजै, भई, आदि कुछ उदाहरण हैं।

सदासुखलाल की भाषा से लल्लूलाल की भाषा में अन्तर यह है कि मुंशीजी की भाषा साफ सुथरी खड़ीबोली है लेकिन लल्लूलाल की भाषा में ब्रजभाषा का गहरा रंग है। हाँ, विदेशी शब्द बहुत नहीं आए हैं। तुकबन्दी की ओर विशेष रुचि है और बड़े-बड़े वाक्यों की भरमार है। यह भाषा कथावार्ता अथवा काव्यात्मक प्रसंगों के लिए तो उपयुक्त हो सकती है, पर दैनन्दिन व्यवहार अथवा गम्भीर विवेचना के काम की नहीं। उदाहरण देखिए—

'श्री शुकदेव मुनि बोले—महाराज! ग्रीष्म की अति अनीति देख, नृप पावस प्रचंड पशुपक्षी, जीव-जन्तुओं की दशा विचार, चारो ओर से दल-बादल साथ ले लड़ने को चढ़ आया। जिस समय घन जो गरजता था सोई तो धौंसा बजाता था, और वर्ण-वर्ण की घटा जो घिर आई थी सोई शूर-वीर रावत थे, तिनके बीच बिजली की दमक शस्त्र की सी चमक थी, बगपाँत ठौर-

ठौर ध्वजा सी फहराय रही थी, दादुर, मोर कड़खैतों की सी भाँति यश बखानते थे, और बड़ी-बड़ी बून्दों की झड़ी वाणों की सी झड़ी लगी थी।"

सदल मिश्र बिहार के शाहाबाद जिले के निवासी थे। इनकी रचना 'नासिकेतोपाख्यान' है। ये लल्लूलाल के समकालीन हैं पर इनकी भाषा 'प्रेम-सागर' की भाषा से नितान्त भिन्न है। इनकी भाषा में व्रजभाषा के शब्दों की भरमार नहीं और न काव्यात्मक शैली का अतिशय प्रयोग ही है। इनकी भाषा चलती और व्यवहारोचित है। हाँ, कहीं-कहीं व्रजभाषा के कुछ प्रयोग, जैसे—सोनन्ह के थंभ, फूलन्ह के बिछौने, सुनि, चहुँदिसि, तथा भोजपुरी के प्रयोग जैसे—जौन-जौन, तौन-तौन, मतारी, बाजने लगा आदि आ गए हैं। अन्यथा इनकी भाषा सदासुखलाल की भाषा की भाँति साफ सुथरी है। उदाहरण—

"इस प्रकार नासिकेत मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन जौन कर्म किए से भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि गौ, ब्राह्मण, मातापिता, मित्र, बालक, वृद्ध, स्त्री, स्वामी, गुरु इनका जो वध करते हैं वो झूठी साक्षी भरते, झूठ ही कर्म में दिनरात लगे रहते हैं, अपनी भार्या को त्याग दूसरे की स्त्री को व्याहते औरों की पीड़ा देख प्रसन्न होते हैं और जो अपने धर्म से हीन पाप में ही पड़े रहते हैं वो माता पिता की हित बात को नहीं सुनते, सबसे बैर करते हैं, ऐसे जो पापी जन हैं सो महा डेरावने दक्षिण द्वार से जा नरकों में पड़ते हैं।"

इन चारों में ऐसे तो किसी की भाषा सर्वथा परिमार्जित और साहित्योप-योगी नहीं कही जा सकती, क्योंकि कुछ न कुछ त्रुटि प्रत्येक में रह गई है—मुंशी सदासुख लाल की भाषा में यदि पंडिताऊपन है तो इंशा अल्ला खाँ की भाषा में उर्दूपन; लल्लूलाल की भाषा में व्रजभाषापन है तो सदल मिश्र की भाषा में पूर्वीपन; फिर भी सदासुखलाल और सदल मिश्र की भाषा अपेक्षाकृत अच्छी है। बाद में दो और महत्त्वपूर्ण गद्यकार हुए—राजा लक्ष्मण सिंह और राजा शिवप्रसाद। लक्ष्मण सिंह की भाषा में स्थानीय प्रयोग तथा शिवप्रसाद की भाषा में उर्दूपन खटकनेवाली बातें हैं। हिन्दी की सर्वथा परिष्कृत गद्य-शैली का प्रवर्त्तन वास्तव में बहुत बाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा हुआ जिन्होंने गद्य को अनेक 'पनों' से बचाए रखकर उसकी कई शैलियाँ प्रस्तावित कीं।

हिन्दी गद्य के विकास में धर्म-प्रचारकों ने भी कम योग नहीं दिया है। आर्य-समाज के खंडन-मंडनात्मक व्याख्यनों के द्वारा हिन्दी गद्य शैली खूब मंजी

हैं। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने भी जाने-अनजाने हमारे गद्य की कम सेवा नहीं की। व्यापक बोधगम्यता के आग्रह के कारण उन्होंने धर्म-प्रचार के लिए लोक-प्रचलित खड़ीबोली को ही अपनाया और शिक्षासम्बन्धी पुस्तकें भी उसमें लिखीं-लिखवाईं। ब्रह्मसमाज के प्रवर्त्तक राजा राममोहन राय ने भी वेदान्त सूत्रों के भाष्य का हिन्दी गद्य में अनुवाद कर तथा 'बंगदूत' नामक अखबार हिन्दी में निकालकर खड़ीबोली गद्य की उन्नति में योग दिया।

गद्यशैली के वास्तविक प्रवर्त्तन का श्रेय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को ही मिलेगा। कारण, जहाँ एक ओर उन्होंने गद्य-भाषा के कई नमूने—कई शैलियाँ—सामने रख प्रकृत परिनिष्ठित गद्य का स्वरूप-निर्णय किया, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने गद्य के अन्तर्गत कई साहित्यिक विधानों का प्रवर्त्तन किया-कराया। पद्य के क्षेत्र में भारतेन्दु ने परम्परागत ब्रजभाषा को ही महत्व दिया। किन्तु गद्य में खड़ीबोली के तीन रूप उन्होंने सामने रखे। गम्भीर प्रसंगों में भारतेन्दु तत्सम शब्दों से परिपूर्ण उच्च हिन्दी का प्रयोग करते थे। विवेचनात्मक निबन्धों में ऐसी शैली का उपयोग है। भावात्मक स्थलों पर उनकी खड़ीबोली के गद्य में सरल तद्भव शब्द ही विशेष आदर पाते थे। और, हँसी मजाक का प्रसंग आता था दो उर्दू मिश्रित चटपटी भाषा का सहारा लिया जाता था। गद्य की एक और दृष्टि से भारतेन्दु ने सेवा की। उन्होंने अपनी लेखनी द्वारा तथा अपने सहयोगियों के माध्यम से साहित्य के अनेक अंगों का शिलान्यास किया। नाटक, इतिहास, निबन्ध आदि की परम्परा का प्रवर्त्तन अपनी लेखनी से, तथा उपन्यास, आलोचना आदि का सूत्रपात सहयोगी लेखकों द्वारा किया-कराया।

इसके बाद हिन्दी गद्य के सर्वतोमुखी विकास का युग आता है जिसमें कहानी-उपन्यास, निबन्ध, नाटक, समीक्षा आदि विविध क्षेत्रों में कई प्रकार की शैलियाँ चल पड़ीं।

हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद का विकास

हमारी संस्कृति में अध्यात्म का महत्त्व सदैव रहा। सदा से आत्मा की पुष्टि के लिए, जीवन में पूर्णता की अनुभूति के लिए, बाह्य पार्थिव-जगत् के उपकरणों की अपेक्षा अपने अन्तस् के वैभव को ही हमने अधिक महत्त्व दिया है। इसी मनोवृत्ति ने हमें मानव-मानव में, मानव-प्रकृति में एवं वस्तु-जगत् के विभिन्न अङ्गों में एकता की खोज करना सिखलाया, हमें दुःख में सुख, सुख में दुःख अपूर्णता में पूर्णता और बाह्य भेदों में आन्तरिक अभेद देखने की दृष्टि दी। जब तक यह दृष्टि नहीं मिलती हमें जीवन में सन्तोष नहीं होता, हमारी आत्मा की प्यास बनी ही रहती है।

हमारे अनुसन्धान भी अधिकतर आध्यात्मिक जगत् में ही हुए हैं। ताप, प्रकाश, विद्युत् आदि शक्तियों की एकरूपता दिखला (Conservation of Energies) 'शक्तियों की एकरसता' के सिद्धान्त द्वारा विज्ञान वस्तुवाद की जिस सीमा तक पहुँचा है, हम उससे कहीं आगे बढ़ सके। हमने उन शक्तियों का स्रोत—आत्मा और परमात्मा की ही एकता की खोज की और उसे सिद्ध किया। फलस्वरूप दर्शन के विभिन्न वादों की सृष्टि हुई पर कोरी दार्शनिकता हमें वह पूर्णता प्रदान न कर सकती थी, केवल बुद्धिवाद द्वारा स्थापित एकता से ही हमारे अन्तस् को सन्तोष होना सम्भव न था। हमें अनुभूति की आवश्यकता थी जो दर्शन की नीरस मरुभूमि में प्राप्य न थी। यह मिली हमें काव्य की निर्झरिणी में, और जिस रूप में मिली उसे हम रहस्यवाद कहते हैं, उसकी अस्पष्ट धूमिल और रहस्यमय रूप-रेखा के कारण।

काव्यगत माधुर्यभावभरित इस रहस्यवाद का एक दार्शनिक आधार है। जीवात्मा, प्रकृति और परमात्मा के बीच जिस तादात्म्य सम्बन्ध की स्थापना रहस्यवाद का विषय है उसका पूर्वरूप अद्वैतवाद के सिद्धान्त के रूप

में विकसित हुआ। वास्तव में तर्क और ज्ञान के क्षेत्र में, बुद्धिवाद के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है वही कल्पना और भावना के सहारे अनुभूति के क्षेत्र में उतर कर रहस्यवाद बन जाता है। अद्वैतवाद में केवल बौद्धिक एकता का ज्ञानमात्र है, किसी असीम शक्ति—जो सभी सीमाधीन शक्तियों का समुच्चय रूप है, किसी असीम सौंदर्य, किसी असीम चेतना का परिचय भर है; पर रहस्यवाद में उसी असीम तक पहुँचने की आकुल प्रेरणा है। उस चिर-सुन्दर से एकाकार हो जाने की तड़प है। अतः रहस्यवाद दार्शनिक अद्वैतवाद से आगे का सोपान है।

काव्य के क्षेत्र में, जिसे हम रहस्यवाद कहते हैं, उसकी प्रथम अवतारणा की कबीर ने। अतः वे ही हिन्दी के सर्वप्रथम और आदि रहस्यवादी कवि कहे जाते हैं। उन्होंने उपनिषदों के सर्वात्मवाद या ब्रह्मवाद में—जिसमें परमात्मा को पुरुष और प्रकृति को स्त्री का रूपक दिया गया है, माधुर्य भावना अथवा दाम्पत्य प्रेम की भावना का समावेश कर के काव्यगत माधुर्यमय रहस्यवाद को जन्म दिया। क्योंकि, श्री श्यामसुन्दरदास के शब्दों में, "माधुर्य भाव इसी का भावुक रूप है जिसमें परमात्मा की प्रियतम के रूप में भावना की जाती है और जगत् के नाना रूप स्त्री में देखे जाते हैं[१]। कबीर ने भी उस असीम प्रियतम के सामने जीवात्मा को स्त्री ही माना है। देखिए—

"लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी होगई लाल॥"

अथवा—

"पिया मिलन जब होइया, आँगन भया बिदेश॥"

अथवा—

"कहैं कबीरा ब्याहि चले हैं पुरुष एक अविनाशी"

इस अन्तिम उद्धरण में हम साँख्य दर्शन की स्पष्ट छाप पाते हैं।

कवि की आध्यात्मिक वेदना की तीव्रता भी कम नहीं। उसे प्रियतम का विरह असह्य हो रहा है :

"कै विरहन के मीच दै कै आपा दिखलाय।
आठ पहर का दाझना मो पै सहा न जाय॥"

वह अपने 'पीव' के दर्शन के लिए सब कुछ कर सकता है—

---

१ कबीर ग्रंथावली, पृ० ५७

"येहि तन का दिवला करौं बाती मेलौं जीव।
लोहू संचौं तेल ज्यों कब मुख देखौं पीव॥"

उसकी दशा ओदी लकड़ी के समान है—

"विरहन ओदी लाकड़ी सपचै औ धुँधुआय।"

पर उसकी यह दशा उसके सिवा और कौन जानता है :

"हिरदे भीतर दवि बलै, धुँआ न परगट होय।
जाके लागी सो लखै, की जिन लाई सोय॥"

फिर भी उसे अपनी इस वेदना से ममता है। वह विरह का मूल्य जानता है—

"विरहा विरहा मत कहो, विरहा है सुलतान।
जा घट बिरह न संचरै सो घट जान मसान॥"

कबीर को प्रियतम का दर्शन नहीं मिला है। शायद वे भूल गए हों। कवि उन्हें सुध दिलाता है।

"सुरति करौ मेरे साइयाँ हम हैं भवजल माहिं।"

क्योंकि—

"हम-से तुमरे बहुत हैं, तुम सम हमरे नाहिं।"

कबीर अपने प्रियतम को राम नाम से भी पुकारता है पर उनके राम दाशरथी राम नहीं हैं। उनके लिए 'राम' विश्वव्यापी अनन्त परमात्मा का पर्यायवाची है। देखिए—

"निरगुन निरंकार के पार परब्रह्म है,
तासु को नाम रंकार जानो।
× × ×
रूप बिन रेख बिन निगम अस्तुति करै
सन्त की राह अनकथ कहानी॥"

कबीर का राम, कबीर का प्रियतम कहीं बाहर नहीं रहता, वह तो उसके अन्तर का ही वासी है। उसके लिए व्यर्थ भटकने की आवश्यकता ही क्या ?

"तेरा साँई तुझ में ज्यों पुहुपन में बास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों फिर-फिर ढूंढै घास॥
रेख रूप जेहि है नहीं, अधर धरो नहिं देह।
गगन मण्डल के मध्य में रहता पुरुष विदेह॥"

इसके पाने की विधि भी वह बतलाता है। वह मार्ग हठयोग का मार्ग है जिसमें यौगिक क्रियाएं हैं, कुण्डलिनी, षट्-चक्र औद सुन्न-मंडल हैं, अजपा और अनाहत की अवस्थाएँ हैं। "पलकों की चिक डारि कै" और समाधि लगा कर ही प्रियतम को रिझाया जा सकता है।

सच पूछिए तो कबीर का रहस्यवाद, समुन्नत रहस्यवाद नहीं है। क्योंकि यद्यपि उनकी कविताओं में गम्भीर शृंखलाबद्ध दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण हम नहीं पाते, फिर भी उनकी अधिकांश कविताएँ दार्शनिकता से इतनी बोझिल हैं कि उनमें भावना का वह उत्कर्ष सम्भव न हो सका जो हमें आगे चल कर देखने को मिलेगा। श्री महादेवी वर्मा के शब्दों में "योग का रहस्यवाद इन्द्रियों को पूणतः वश मे कर के आत्मा का कुछ विशेष साधनाओं और अभ्यासों द्वारा इतना ऊपर उठ जाना है जहाँ वह शुद्ध चेतना से एकाकार हो जाता है।......कबीर का रहस्यबाद यौगिक क्रियाओं से युक्त होने के कारण योग परन्तु आत्मा और परमात्मा के मानवीय प्रेम-सम्बन्ध के कारण वैष्णव युग के उच्चतम कोटि तक पहुँचे हुए प्रणय-निवेदन से भिन्न नहीं।......कबीर के रहस्य भरे पद हमारे हृदय को स्पर्श कर सीधे बुद्धि से टकराते हैं। अधिकतर इनमें उसके विचार ध्वनित हो उठते हैं, भाव नहीं जो गीत का लक्ष्य है[1]।"

इन्हीं कारणों से हम कबीर को उत्कृष्ट रहस्यवादी कवि नहीं कह सक क्योंकि उनमें वह रागात्मक आकर्षण की तीव्रता अभी पूर्ण विकसित अवस्था में नहीं है जो रहस्यवादी कविताओं का प्राण है। मीरा में यह तीव्रता, प्रेम की यह 'पीर' अपनी सीमा तक पहुँची हुई है।

"हेली मैं तो प्रेम-दिवानी री, मेरौ दरद न जानै कोइ।"

वह अपनी मस्ती में कह उठती है। पर उसकी उपासना साकार ईश्वर की थी। वह कहती है—

"मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरा न कोई।"

यह गिरिधर गोपाल नन्द के घर में रहने वाले, रास रचाने वाले कन्हैया ही थे। अतः हम मीरा को रहस्यवादियों की पक्ति में नहीं बैठा सकते।

कबीर के पश्चात् माधुर्यभावभरित रहस्यवाद के क्रमिक विकास में यदि किसी का स्थान आता है तो वह प्रेममार्गी सूफी कवियों का। श्री महादेवी

---

१ 'सान्ध्यगीत' की भूमिका

वर्मा कहती है—"सूफी मत के रहस्यवाद में अवश्य ही प्रेमजनित आत्मानुभूति और चिरन्तन प्रियतम का विरह समाविष्ट है[1]।" जहाँ कबीर का रहस्यवाद चिन्तन-प्रधान था वहाँ जायसी आदि सूफी सन्तों के रहस्यवाद में भावना का प्राधान्य है। वहाँ यौगिक क्रियाएँ नहीं हैं केवल प्रेम की व्यंजना है। आत्मा और परमात्मा के बीच इस प्रेम-सम्बन्ध को इन कवियों ने लौकिक कथानकों के रूप में अभिव्यक्त किया है और उसे एक निर्णीत शैली का रूप दिया है। इन भारतीय प्रेममार्गी रहस्यवादी कवियों पर भारतीय दर्शन और सूफी मत के 'इश्क', दोनों का प्रभाव पड़ा है। अत: इनकी कविताएँ दोनों प्रकार के प्रभाव से अनुरञ्जित हैं। यदि इस बात पर विचार किया जाय कि इन प्रेमाख्यानक कवियों को भी सूफी मतावलम्बियों की ही भाँति उनके 'मजनू के लिए अल्लाह भी लैला नजर आया' या इसके विपरीत भारतीय पद्धति के अनुसार इन्होंने ईश्वर को प्रियतम और भक्त को प्रियतमा का रूप दिया, तो इस बात की सत्यता और भी स्पष्ट हो जायगी। क्योंकि इन कथानकों के अध्ययन से दोनों प्रकार के उत्तर समर्थित किए जा सकेंगे। न केवल प्रेमिका प्रेम में व्याकुल चित्रित की गई है किन्तु प्रेमी भी 'प्रेम की पीर' लिये योगी बन कर अपनी प्रेमिका की तलाश में नगरों और जङ्गलों की खाक छानता दिखाया गया है।

मंझन कृत 'मधुमालती' की कथा में भी हम देखते हैं कि जब मनोहर को अप्सराएँ राजकुमारी मधुमालती की चित्रसारी में रख आती हैं और दोनों का साक्षात्कार होता है तो मनोहर कहता है—"मेरा अनुराग तुम्हारे ऊपर कई जन्मों का है।" और दोनों के अलग होने पर दोनों ही विरह-ज्वाला में प्रदग्ध और प्रेम-विह्वल होते हैं। मनोहर की उपर्युक्त उक्ति से यह भी संकेत मिलता है कि प्रेम जन्म-जन्मान्तरों में अटूट है, जिससे ईश्वरीय प्रेम-तत्व की व्यापकता और नित्यता का आभास मिलता है। वर्तमान रहस्यवादी कवियों ने भी अतीत स्मृतियों से यही संकेत किया है। देखिए—

स्मृतियाँ जन्म-जन्म की
खिलती थीं सुमनावली बनी[2]।"

श्री रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—"सूफियों के अनुसार सारा जगत् एक ऐसे प्रेम-सूत्र में बँधा है जिसका अवलम्बन करके जीव उस रहस्यमय प्रेम-

---

१ वही।

२ विशाख—जयशंकर 'प्रसाद'।

मूर्ति तक पहुंच सकता है।" सब रूपों में उसी की छिपी ज्योति है। ईश्वर का विरह ही इन सूफी साधकों की प्रधान सम्पत्ति मानी गई है। उदाहरण—

"विरह अवधि अवगाह अपारा।
× × ×
विरह की जगत अबिरथा जाहीं।
विरह-रूप यह सृष्टि सबाहीं।।"[1]

पदमावत में भी 'प्रेम की पीर' और उसकी साधना की कठिनाइयों की पूर्ण अभिव्यक्ति है। और सारे ग्रन्थ में एक विस्तृत रूपक की धूमिल रूप-रेखा है। प्रमाणस्वरूप ग्रन्थ की अन्तिम पंक्तियों का उल्लेख यथेष्ट होगा।

"तन चितउर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा।।
गुरु सुआ जेहि पन्थ दिखावा।
बिन गुरु जगत को निरगुन पावा।।
नागमती यह दुनिया धन्धा।
बाँचा सोइ न यही चित बाँधा।।
राघव दूत सोई सैतानू।
माया अलाउदी सुलतानू।।"[2]

डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में "सारी कथा के पीछे सूफी सिद्धान्तों की रूप-रेखा है पर जायसी इस आध्यात्मिक संकेत को पूर्णरूप से नहीं निबाह सके हैं। कथानक के अत्यधिक विस्तार, स्थल-स्थल पर विलासमय वर्णन और कहानी के प्रवाह में आध्यत्मिकता की अन्तर्धारा विलुप्त-सी हो गई है।"[3] बात भी ठीक है। सच्ची रहस्यवादी कविता का स्वरूप गीति-काव्यों में ही मुखरित हो सकता है। रहस्यवाद आत्मानुभव की वस्तु है। अपने निजी जीवन की अनुभूतियों का विषय है। अतः इसे प्रबन्धात्मक रूप देने में इसकी वास्तविक रूप-रेखा के बिखर जाने की सम्भावना सदा रहेगी ही। इसीलिए हम देखते हैं कि रहस्यवाद का पूर्ण विकास गीति-काव्य के इस वर्तमान युग में ही सम्भव हुआ है।

---

१ मधुमालती से।
२ पदमावत—जायसी।
३ हि० सा० का० आ० इतिहास।

हाँ, जहाँ व्यक्तिगत काव्यात्मक वर्णन की बातें हैं, वहाँ जायसी के हाथों भी रहस्यवाद का वास्तविक रूप प्रस्फुटित हुआ है। पद्मिनी के रूप-वर्णन में ही देखिए। वहाँ उस अनन्त सौन्दर्य की ओर, जिसके विरह में सारी सृष्टि व्याकुल-सी है, बड़े ही सुन्दर संकेत हैं। जैसे—

"बरुनी का बरनौं इमि बानी।
साधे बान जानु दुइ आनी॥
उन बानन्ह अस को जनु मारा।
बेधि रहा सगरौ संसारा॥

"सगरौ संसारा"—इन शब्दों का अपना महत्त्व है। और भी देखिए—

"बरुन बान अस ओपहं, बेधे रन, बन, ढाँख।
सौजहिं तन सब रोआँ, पंखिहि तन सब पाँख॥

पर व्यक्तिगत भाव के ऐसे स्थल पद्मावत या अन्य प्रेमाख्यानक ग्रन्थों में कम ही हैं, आधिक्य एवं प्राधान्य तो प्रबन्धात्मक वर्णन का ही है। अतः ये काव्य-ग्रन्थ भी विशुद्ध रूप से रहस्यवाद के ही नहीं कहे जा सकते। हाँ, उनमें रहस्यवाद अवश्य है, और उच्च कोटि का है।

विशुद्ध, विकसित, परिमार्जित रहस्यवाद का काल तब आरम्भ होता है, जब हिन्दी के तरुण साहित्यकारों ने द्वार खड़े नवयुग की पुकार सुनी, जब प्रगति के समीर ने हलके झोकों से उनकी तन्द्रिल पलकें खोल दीं। बंगला-साहित्य-क्षेत्र में कवीन्द्र रवीन्द्र की रहस्यवादी कविताओं की तूती बोलती थी। इधर अङ्गरेजी शिक्षा के प्रचार ने और वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) जैसे रोमांचक (Romantic) कवियों की रचनाओं का एक नवीन द्वार भारतीय कवियों के लिए खोल दिया। हिन्दी काव्य में आधुनिक युग का उन्नत रहस्यवाद इन्हीं मिश्रत प्रभावों द्वारा प्रसूत है। आधार पुराना ही रहा, पर उसी पर एक नये काव्यप्रासाद का निर्माण किया गया। वही अद्वैतवादी सिद्धान्त, वे ही दार्शनिक उपकरण वही 'प्रेम की पीर', वही आध्यात्मिक प्रणय नए सिरे से, नई शैली द्वारा नए रूप में सजा कर रखे गए। कबीर उपदेशक थे, उनके रहस्यवाद में बुद्धिवाद का मिश्रण था; सूफी कवि-गण आख्यानक और प्रबन्ध-काव्य के लेखक थे, और उनकी कविता में रहस्यवाद के सरस छींटे यत्र-तत्र ही मिलते हैं, पर आज की रहस्यवादी कविता गीतिमय हो गई है। उसमें चिन्तना का नहीं, भावना और अनुभूति

का प्राधान्य है ! हृदय के सजल, सरल और सरस भाव मुक्त रूप से गेय मुक्तकों में अभिव्यञ्जित हैं ।

आज भी विरह-वेदना है, आज भी 'प्रेम की पीर' है, पर उसकी तीव्रता अधिक मर्मस्पर्शिनी है । आज का कवि युगों की मञ्जिल पार कर उत्कर्ष के उस ज्वलित विन्दु पर पहुँचा हुआ है, जहाँ विरह इतना तीव्र हो जाता है कि मिलन और विरह के भेद का भाव तक अशेष हो जाता है । प्रकाश का अत्याधिक्य भी तो अन्धकार है । विरह की सीमा भी तो मिलन की अनुमति में परिणत हो जाती है । श्री महादेवी वर्मा जो स्वयं वर्त्तमान युग की वेदना-प्रधान, रहस्यवादी कवयित्री हैं, स्वयं अपनी रचनाओं के विषय में कहती हैं—"नीरजा और सान्ध्यगीत मेरी उस मानसिक स्थिति को व्यक्त कर सकेंगे, जिसमें अनायास मेरा हृदय सुख-दुख में सामंजस्य का अनुभव करने लगा । × × × अन्त में अब मेरे मन ने न जाने कैसे उस बाहर-भीतर में एक सामंजस्य-सा ढूँढ़ लिया है, जिसने सुख-दुख को इस प्रकार बुन दिया कि एक के प्रत्यक्ष अनुभव के साथ दूसरे का अप्रत्यक्ष आभास मिलता रहता है ।"

आज का कवि सुख और दुःख दोनों को समान रूप से चाहता है—

"जग पीड़ित है अति सुख से ।
जग पीड़ित है अति दुख से ॥
जीवन में हिलमिल जावें,
सुख दुख से औ, दुख सुख से ॥"

—'पन्त'

सुख-दुख में समता ही तो सफल जीवन की कुंजी है । यही तो आत्मा की प्यास मिटाने के लिए सुधाविन्दु है । मानव जिसे युगों से खोज रहा था, वह आज काव्य के क्षेत्र में रहस्यवाद के रूप में मिला । आज ही "जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में कवि ने ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके ससीम हृदय में समाया हुआ था, तब प्रकृति का एक-एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जग उठा" है ।

—महादेवी

महादेवी के ही शब्दों में "आज गीत में हम जिसे रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं ... उसने परा-विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की

छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य-भाव सूत्र में बाँध कर निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्ब दे सका, उसे पार्थिव प्रेम के ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।" उदाहरण-स्वरूप उन्हीं की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"एक करुण अभाव में चिरतृप्ति का संसार संचित।
एक लघुक्षण दे रहा निर्वाण के वरदान शत-शत;
पा लिया मैंने किसे इस वेदना के मधुर क्रय में॥
कौन तुम मेरे हृदय में।"

अथवा—

"बीन भी मैं हूँ तुम्हारी रागिनी भी हूँ।
दूर हूँ तुमसे अखण्ड सुहागिनी भी हूँ।
तार भी आघात भी झंकार की गति भी,
पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, मधुर विस्मृति भी।
अधर भी हूँ और स्मिति की चाँदनी भी हूँ॥"

राय कृष्णदास नीरजा की भूमिका में लिखते हैं कि "कवि की (महादेवी की) आत्मा मानो इस विश्व में बिछुड़ी हुई प्रयसी की भाँति अपने प्रियतम का स्मरण करती है। उसकी दृष्टि से विश्व की सम्पूर्ण प्राकृतिक शोभा-सुषमा एक अनन्त अलौकिक चिर सुन्दर की छाया मात्र है। इस प्रतिबिम्ब-जगत् को देख कर कवि का हृदय उसके सलौने बिम्ब के लिए ललक उठा है। × × × उसी एक का स्मरण, चिन्तन एवं उसके तादात्म्य की उत्कण्ठा महादेवीजी की कविताओं का प्राण है।"

देखिए उस अलौकिक चिर-सुन्दर का एक सुन्दर चित्र—

"लय गीत मदिर, गति ताल अमर,
अप्सरि, तेरा नर्तन सुन्दर!
आलोक तिमिर सित असित चीर,
सागर गर्जन रुनझुन मँजीर!
उड़ता झंझा में अलक जाल,
मेघों में मुखरित किंकिणि स्वर!
रवि-शशि तेरे अवतंश लोल,
सीमन्त-जटित तारक अमोल!

चपला विभ्रम, स्मिति इन्द्रधनुष,
हिमकण बन झरते स्वेद-निकर !
अप्सरि, तेरा नर्त्तन सुन्दर !''

यदि ऐसी अनन्त छवि के दर्शन की उत्कण्ठा से कवि की आत्मा विह्वल हो कह उठे—

"तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूं उस ओर क्या है ।
जा रहे जिस पंथ से युग कल्प उसका छोर क्या है ?
क्यों मुझे प्राचीर बन कर
आज मेरे श्वास घेरे ।।''
('सान्ध्यगीत' से)

तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? और उसके पाने के लिए जितना भी कष्ट झेलना पड़े, थोड़ा ही है । प्रेम के मार्ग में काँटे भी फूल बन जाएँगे—

"प्रिय-पथ के ये शूल मुझे अति प्यारे ही हैं ।
चल ज्वाला के देश जहाँ अंगारे ही हैं ।।''

कवयित्री का हृदय दुःखों से घबराता नहीं, विरह से उसे डर नहीं लगता, बल्कि उसमें इतना साहस है कि वह कहती है—

"विरह की घड़ियाँ हुईं अलि
मधु मिलन की यामिनी-सी !''

बन्धन भी उसे प्रिय ही है ।

"क्यों मुझे प्रिय हो न बन्धन !
स्मृति पटल पर कर रहा अब वह स्वयं निज चित्र अङ्कन !''

पर यह तो वर्त्तमान रहस्यवाद का सिर्फ एक रूप हुआ । क्योंकि हमारी कविता आज अनेक रूपों में पल्लवित, पुष्पित हुई है । यद्यपि वस्तु एक है, धारा वही है, प्रवृत्तियाँ अभिन्न ही हैं, तथापि भिन्न-भिन्न कवियों ने आधुनिक रहस्यवाद को विभिन्न क्रमों तक पहुँचाया है । किसी में अनन्त प्रियतम के विरह की वेदना भर है, जिसके फलस्वरूप उसकी आत्मा बेजार आँसू बहाया करती है । जैसे—

"आह ! यह मेरा गीला गान,
वर्ण-वर्ण है उर की कम्पन,
शब्द-शब्द है सुधि की दंशन,
चरण-चरण है आह !'' —'पन्त'

कैसी मार्मिक पीड़ा है !

"करुण है हाय ! प्रणय,
नहीं दुरता है जहाँ दुराव !
करुणतम भग्न हृदय,
नहीं भरता है जिसका घाव !
हृदय रो, अपने दुख का भार !"

—'पन्त'

अथवा रामकुमारजी की ये पंक्तियाँ—

"करुणा का गहरा गुञ्जार ।
जिसमें गर्वित विश्व पिघल कर बनता है आँसू की धार"

कहीं इसी वेदना ने प्रिय-मिलन में असफलता के कारण निराशावाद का रूप ले लिया है—

"ओ उन्मादी ! रो लेने दे क्षण भर मुझे अकेला !
इस यौवन के उषाकाल में छिपी साँझ की वेला !"

—चकोरी

कहीं वेदना का ही गरल पीते-पीते कवि वेदना को ही प्यार करने लगा है—

"वेदने तू भी भली बनी ।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी ।"

× × ×

"न कर वेदना सुखसे वंचित बढ़ा हृदय हिल्लोल ।"

—गुप्त

उर्मिला की उपर्युक्त वाणी में छायावाद-युग का प्रभाव मुखरित है ।

इसी प्रकार कहीं कवि अनुभूति की उस सीमा तक पहुँच चुका है, जब सुख और दुःख, मिलन और विरह दोनों उसके लिए बराबर ही हैं । इसके उदाहरण दिये जा चुके । और भी दिये जा सकते हैं—

"वह हँसी और यह आँसू,
घुलने दे मिल जाने दे ।
बरसात नई होने दे,
कलियों को खिल जाने दे ।।"

'आँसू' (प्रसाद)

जयशंकर 'प्रसाद' ने अपनी विमल काव्य-साधना द्वारा आधुनिक रहस्यवाद को बहुत ऊँचा पहुँचाया है। आज का रहस्यवाद उत्कृष्टतम है, क्योंकि इसमें स्थूलता अशेष हो चुकी है, लौकिकता का आधार भी न रहा, यहाँ तक कि आध्यात्मिक विरह-निवेदन में प्रेम की अपार्थिवता के कारण माधुर्यभावभरित दाम्पत्य-सम्बन्ध में विजातीयता की भी आवश्यकता न रह गई। 'प्रसाद' जी के प्रियतम भी पुरुष हैं और अपने लिए भी वे पुलिङ्ग का ही व्यवहार करते हैं। प्रेम की यौनातीत स्थिति के प्रमाण-स्वरूप एक ही उदाहरण यथेष्ट होगा—

"शशि मुख पर घूँघट डाले,
अञ्चल में दीप छिपाए।
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आए।"

'घूँघट डाले' और 'तुम आए' का समन्वय इस दृष्टि से विचारणीय है।

ये रहस्यवाद की विविध अवस्थाएँ हैं। वस्तुतः हम देखते हैं कि रहस्यवाद वर्त्तमान काल में ही अपनी समुन्नत एवं उत्कृष्ट अवस्था तक पहुँचा है। यह वर्त्तमान युग की अमूल्य निधि और अनुपम देन है। अपनी सीमाओं के बावजूद रहस्यवाद सहृदयों को सदा अपनी धूमिल मन्दाकिनी से अनुप्राणित करता रहेगा।

छायावाद और प्रगतिवाद

कहा जाता है कि छायावाद द्विवेदी-युग की अतिशय इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में उद्भूत हुआ। द्विवेदीयुग ने भाव की अपेक्षा भाषा पर अधिक जोर दिया, भाषा को पाणिनि की भाँति व्याकरण की शृंखला में बाँध दिया। आत्मा की अपेक्षा शरीर को अधिक महत्त्व मिला और हृदय अपनी अभिव्यक्ति की अतृप्त प्यास लिए किसी तिमिरमय कोने में पड़ा रहा, अज्ञात और उपेक्षित। जब हम अपने बाह्य को ही अत्यधिक महत्त्व देने लगे तो हमारा अन्तर पुकार उठा और हमें इस पुकार का उत्तर देना पड़ा। फलस्वरूप एक प्रतिक्रिया के रूप में छायावाद आया। भाषा की सहज स्वाभाविकता ने, जो इतिवृत्ति के अनुकूल थी, वाग्वैचित्र्य, चित्रमयता एवं अप्रस्तुत-योजना के समक्ष सर झुका लिया। काव्य के नन्दन-कानन में कल्पना की क्रीड़ा होने लगी। भाषागत वह सहज स्वाभाविकता जो श्रीमैथिलीशरण गुप्त की कविताओं का उपादान है—अब नहीं दिखाई पड़ने लगी। उसका स्थान लिया लाक्षणिक वैचित्र्य, अप्रस्तुत प्रतीकों की दूरारूढ़ भावना तथा धुंधले अतएव कष्ट-सिद्ध साम्य पर आधारित चित्र-योजना ने।

अब इस प्रकार की पंक्तियाँ--

"देखी मैंने आज जरा,
क्या ऐसी ही हो जायगी मेरी यशोधरा।"

जिनके भाव सूखी लकड़ी में अग्नि के समान सहज ही चित्त में व्याप्त होकर लोकोत्तर रसात्मक अनुभूति को जन्म देते हैं, समय के विरुद्ध (out of date) समझी जाने लगीं और कवि भावोन्मेष में कहने लगा—

ले चल मुझे भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे-धीरे,

जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी,
निश्छल प्रेम - कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे !

'प्रसाद' की इन पंक्तियों में रहस्य अपने अर्द्धोन्मीलित नेत्र खोलता-सा है, और छायावाद अपनी धूमिल, स्वप्निल छाया डाल रहा है। किसी परोक्ष सत्ता का अवलम्बन ले प्रणयोद्गार के शब्दों में हृदय की आकुलता की व्यञ्जना रहस्यवाद कहलाई। इसमें परमात्मा की प्रियतम के रूप में भावना की जाती है और आत्मा की प्रेयसी के रूप में। इस हेतु माधुर्य भाव भरित होने पर भी इसमें आध्यात्मिकता का रंग है। छायावाद का यह रूप सर्वांश में महादेवी वर्मा द्वारा ही अपनाया गया। "अन्य कवि प्रतीक-पद्धति या चित्र-भाषा-शैली के अर्थ में ही छायावादी कहलाए।" (पं० रामचन्द्र शुक्ल)

आह ! चूम लूं जिन चरणों को
चाँप चाँप कर उन्हें नहीं,
दुख दो इतना, अरे,
अरुणिमा ऊषा सी वह उधर बही !

—'प्रसाद'

जैसी पंक्तियों में विशुद्ध चित्रभाषा शैली या प्रतीक-पद्धति वाला छायावाद है[1]। अंगुलियों को चाँप कर चलने से एड़ियों में लालिमा दौड़ जाती है, बस इसी बात को लेकर कवि ने ऊषा की अरुणिमा तक अपनी कल्पना दौड़ाई है। इसमें कल्पना का विकास है, पर वह सरसता और स्वाभाविक आकर्षण नहीं जो चरणों के वर्णन में गुप्त की इन पंक्तियों में है--

पाकर विशाल कचभार एड़ियाँ धँसतीं,
तब नख-ज्योति मिस मृदुल अंगुलियाँ हँसतीं।
पर चलने में फिर भार उन्हीं पर पड़ता,
तब अरुण एड़ियों से सुहास सा झड़ता॥

सीता की मंद-मनोहर गति का एक गतिशील चित्र साकेत के अष्टम सर्ग की इन पंक्तियों में कवि ने खींचा है।

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—रा० च० शुक्ल।

तात्पर्य यह कि यद्यपि छायावाद हृदय-पक्ष की उपेक्षा दूर करने आया था, यद्यपि वह भाषा की, काव्य के शरीर की, मनुष्य के बाह्य की प्रधानता के विरुद्ध एक शक्तिशाली विप्लव के रूप में ही आया था, फिर भी प्रतिक्रिया का प्रतिफलन होने के फलस्वरूप उसमें वह बात न थी जो द्विवेदी युग की कमी को पूरी करती। प्रतिक्रिया का जोश तो उसमें था, विप्लव का विध्वंसकारी रोमाञ्चवाद तो उसकी गतिविधि में दृष्टिगत हुआ, पर हृदय की मार्मिक अनुभूति एवं सरसता, जीवन की वास्तविक स्थितियों के प्रति सजीवता का उसमें अभाव ही बना रहा। उसमें न तो स्थैर्य था न क्रियाशील निर्णयात्मक वेग ही। 'नपुंसकता से उसकी उत्पत्ति हुई, विलासता में वह पला और अस्पष्टता और शब्दाडम्बर का परिधान पहन कर संसार के सामने नित नए वेश में वह लाया जाने लगा।' इससे समाज की प्यास न मिटी। एक ओर हमारे कवि मधु के प्याले में नाक डुबाये थे, आकाश के मेघ-खंडों में, वन-वल्लरी में, सलिल-आवर्त्त में स्त्री की मोहनी मूर्ति की कल्पना में मदमस्त थे, दूसरी ओर क्षुधापीड़ित, शोषण-जर्जर देश हाहाकार कर रहा था। बच्चे दूध के लिए मचल कर रह जाते थे। दुःखिनी माँ के आँसुओं को देखने वाला भी कोई नहीं था। यह स्थिति बहुत दिनों तक टिक नहीं सकती थी। काव्य को यदि जीवित रहने की आकांक्षा है तो उसे जन-जीवन के समकक्ष खड़ा होना होगा। लोक-भावना की उपेक्षा कर के चलने वाला काव्य, जीवन की वास्तविकता से विच्छिन्न एक नई स्वप्निल दुनिया बसाने की अभिलाषिणी कविता, जनजागरण के युग में प्रतिष्ठा नहीं पा सकती। साहित्य और काव्य यदि युग के दर्पण हैं, यदि लोक-जीवन की बांसुरी हैं तो उन्हें जनता की दशा का चित्र भी खींचना होगा, उनके दुःखदर्द की कहानी भी कहनी होगी। छायावाद इसमें असमर्थ था। अतः उसकी भी प्रतिक्रिया अनिवार्य हुई। नारिकेल के समान छायावाद की कविता में जो गुप्त रस है उसके आस्वाद की अवस्था तक पहुंचने के पहले ही साधारण पाठक की बुद्धि और हृदय दोनों कुण्ठित, विश्रान्त हो जाते हैं। उसकी कल्पना के वैभव से मन-चाहे आश्चर्य में भले ही डूब जाय, पर रस-सिक्त होकर गद्-गद् नहीं हो पाता था।

छायावाद की इन कमजोरियों को छायावाद के नेताओं ने भी समझा और वे भी उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया के आन्दोलन में अगुआ बने। 'पन्त' ने 'पल्लव' में—

'अरे ये पल्लव बाल'

प्रभृति पंक्तियों द्वारा छायावाद के पनपने की आशा दिखाई थी। पर वही 'युगान्त' द्वारा यह कहते पाये गए—

द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र !

युगान्त में छायावाद के युग के अन्त की सूचना है, प्रगतिवाद के युग के अरुणोदय का आह्वान। 'युगवाणी' तो प्रगतिवाद का जय-निर्घोष ही है और 'ग्राम्या' में मानो कवि प्रगति की रुद्रता दूर करने के हेतु वाणी में संगीत भरने का प्रयास कर रहा है।

पल्लव में जिसने नारी के सम्बन्ध में कहा था—

मूंद पलकों में प्रिया के ध्यान को,
थाम ले अब हृदय इस आह्वान को।

अथवा—

बाल - युवतियाँ तान कान तक
चल चितवन के बन्दनवार !
मदन, तुम्हारा स्वागत करतीं,
खोल सतत उत्सुक दृग-द्वार॥

वही 'युगवाणी' में पुकार उठता है—

मुक्त करो नारी को मानव, चिर-वन्दिनी नारी को।
युग-युग की निर्मम कारा से, जननि, सखी, प्यारी को॥

'जननि, सखी, प्यारी' को—युग का प्रतिनिधि कवि युगवाणी में ही नारी को अपनी समग्रता में देख पाया है। अब उसकी दृष्टि एकांगी नहीं, उसकी आत्मा केवल 'गुलाब की रूह सूंघने और शहद चाटने' की वृत्ति से सन्तुष्ट नहीं। अब उसकी कविता व्योम-वासिनी कल्पना को आत्म-समर्पण नहीं कर पाती, वरन् मिट्टी के 'भू' का भी महत्त्व समझती है।

ताक रहे हो गगन ?
मृत्यु नीलिमा गहन ?
देखो भू को
जीव - प्रसू को
हरित भरित
मर्मरित गुंजरित.......
कुसुमित भू को !
जिस पर अंकित

सुर - मुनि - वंदित
मानव - पद - तल ।

(युगवाणी : पन्त)

मानव-जीवन की वास्तविकता ने, वास्तविक जगत् के संघर्षों ने, काव्य में प्रतिष्ठा पाई है। कवि अब वस्तु जगत् से निराश स्वप्नदर्शी नहीं वरन् आत्म-विश्वास से युक्त, तरुणोचित तेज से क्रियाशील एक सहृदय व्यक्ति बना जिस पर मानव के राग-विरागों का, दुःख-सुखों का गतिमय प्रभाव पड़ता है। बच्चों को भूख से तड़पते छोड़ वह प्याले से अपने श्रांत मानस को नहीं बहला सकेगा। वह कहेगा—

हटो व्योम के मेघ पन्थ से
स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
'दूध' 'दूध' ओ वत्स ! तुम्हारा,
दूध खोजने हम जाते हैं !!

(हुँकार : दिनकर)

आज का कवि दुनिया की गतिविधि को समझता है। वह देखता है—

तलातल से उमड़ती आ रही है आग कोई

—दिनकर

और समय पड़ने पर वह सभी प्रकार के बलिदान के लिए तैयार है—

चाहती हो बुझना यदि आज
होम की शिखा बिना सामान,
अभय दो, कूद पड़ूं जय बोल,
पूर्ण कर लूँ अपना बलिदान !!

(हुँकार : दिनकर)

किन्तु, प्रगतिवाद भी स्वयं छायावाद की प्रतिक्रिया होने के कारण कुछ अनिवार्य विषमताओं से पंकिल सा होने लगा, इसमें सन्देह नहीं। जिस प्रकार छायावाद के कवियों ने एक सीमित क्षेत्र के उपकरणों को ही—केवल मधु, स्वर्ण, ऊषा, स्वप्न, प्रभृति को ही कविता का प्रकृत विषय मान लिया था, जिस प्रकार उन्होंने एकमात्र प्रेम और विरह-व्यंजना को ही काव्य में अभीष्ट समझ रक्खा था, ठीक उसी प्रकार प्रगतिवाद के क्षेत्र में भी एक विशेष प्रकार की वस्तुएँ कविता के लिए उपयुक्त विषय कही जाने लगी। प्रगतिवाद का समाजवाद अथवा मार्क्सवाद के साथ गठबन्धन हो गया। यदि हँसिया-हथौड़ा, वर्ग-

संघर्ष, कूड़ा-करकट, भैंसागाड़ी, ट्राम-कार आदि को लेकर चलनेवाली कविताओं को ही प्रगतिशीलता का सार्टिफिकेट दिया जाए तो इससे महान् अनर्थ की संभावना है। प्रगति किसी सिद्धान्त-विशेष के अन्धानुवर्तन में नहीं, किसी राजनीतिक विचारधारा के अनुगमन में नहीं, वरन् सामाजिक जीवन के वास्तविक निरीक्षण, उसकी समस्याओं के सम्यक् विश्लेषण और गतिशील चित्रण में है। साहित्य को हम राजनीति का अनुचर नहीं बना सकते। और न हम उसी मनोवृत्ति के कायल हैं जो पाश्चात्य से आने वाले सभी वादों को आदर्श मान हिन्दी में भी उसी की दुहाई देते हैं। रूस अथवा यूरोप से हमारी परिस्थितियाँ भिन्न हैं। हमारे समाजवाद की भी रूप-रेखा अपनी ही होगी। उसी के अनुसार, अपने देश की वास्तविक समस्याओं के ही अनुसार हमारे सिद्धान्त बनेंगे। और साहित्य में जिसे हम प्रगतिवाद कहते हैं, वह मार्क्सवाद का हिन्दी संस्करण मात्र नहीं होगा, वरन् हमारे जीवन की प्यास मिटाने वाली काव्य-धारा के रूप में होगा जिसमें राष्ट्र की उन्नतिशील शक्तियों का योग होगा।

प्रगतिवाद के अन्दर हम उन सारी काव्य-प्रवृत्तियों को लेंगे जो राष्ट्रीयता के सूत्रों को एकत्र कर हमारे सामूहिक जीवन को उन्नीत करने की आकांक्षा रखती हैं। इस दृष्टि से अपने समय में भारतेन्दु भी प्रगतिशील थे। गुप्तजी की 'भारत-भारती' भी प्रगतिशीलता का तत्कालीन रूप थी और 'एक भारतीय आत्मा,' 'नवीन', 'दिनकर', 'पन्त' आदि की रचनाएँ प्रगतिवाद के स्तम्भ हैं। प्रगतिवाद यदि जीवन-वास्तव को रागमय रूप देने में असमर्थ तथा केवल रूढ़ सैद्धान्तिक सीमाओं में बँधा रहा तो उसे भी छायावाद की ही तरह किसी आगामी प्रवृत्ति के लिए लोक-प्रतिष्ठा का आसन छोड़ना होगा।

प्रगतिशील साहित्य

साहित्य विश्व-मानव की चेतना का स्पन्दन है, विश्व-हृदय के रागविरागों की बाँसुरी है। यह वह दर्पण है जिसमें विश्व-जीवन युग की छाप लिए प्रतिबिम्बित होता रहता है, और वह ध्रुव की आलोक-रश्मि भी जिसके संकेत पर युग-युग का पथिक मानव अपनी अथक जीवनयात्रा की दिशा निर्णीत करता है। साहित्य जहाँ एक ओर मानवता की अतीत अनुभूतियों का अक्षर कोष है, वहाँ दूसरी ओर वर्त्तमान का सम्बल और भविष्य की प्रेरणा भी। पर इन सभी बातों की तह में एक अनिवार्य तथ्य है, और वह यह कि साहित्य अखिल मानवता की सम्पत्ति, मानव-मात्र की विभूति है। उस पर किसी व्यक्ति या वर्ग-विशेष का 'कापी राइट' नहीं।

संसार के जिस कोने में भी, जहाँ भी, मानव-हृदय स्पन्दित होता है, वहीं साहित्य की सामग्री है, चाहे वह मानव पूंजीपति हो चाहे श्रमिक, धनिक हो या गरीब, राजा हो या भिखारी। सभी को साहित्य-मुकुर में अपने जीवन की परछाई देखने का समान अधिकार है, सभी को साहित्य के नन्दन-कानन की सुरभि से अपने श्रमशिथिल प्राणों में उत्तेजना भरने का बराबर हक है, और सभी के लिए साहित्य-वीणा के माध्यम से अपने अन्तर की आकुल पुकार को व्यक्त करने में समान औचित्य है। पर यह तो आदर्श है। वास्तव में, जीवन की यथार्थ भूमि पर, हम देखते क्या हैं ?

हमारी आँखों के सामने एक अजीब नजारा है ! हम देखते हैं, जिस प्रकार सामान्य जन-जीवन पर—जो आदर्श के अनुसार, न्यायतः निर्बन्ध, मुक्त एवं सुलभ होना चाहिए था, कुछ एक वर्ग-विशेष के लोगों ने पूर्णाधिपत्य स्थापित कर लिया है—अथवा सदा से करते आए हैं—उसी प्रकार साहित्य

पर भी अब तक उस वर्ग ने सदा ही अंकुश रखने का प्रयत्न किया है। जो जीवन में भौतिक रूप से अधिक सबल है। जिनके पास धन है, पूंजी का बल है, राज्य की सत्ता है, उन्हीं का वर्ग अभी तक सभी देशों और सभी कालों में सामाजिक जीवन का नियमन करता आया है। यह नियमन वह वर्ग अपने स्वार्थों के ही अनुरूप करता है, यह इतिहास और वर्त्तमान दोनों प्रमाणित कर रहे हैं। इसमें जीवन के अन्य उपकरणों की ही भांति साहित्य को भी उन्होंने अपने स्वार्थों की सिद्धि का साधन बनाया है। कवि की वाणी और लेखकों की कलम के सामने सत्ता किरीच लिए खड़ी रही है जिसका फल यह हुआ है कि विश्वात्मा के प्रतिनिधि उन कवियों के मुख से निःसृत युगवाणी बहुत कुछ सत्ताधारियों की विलास-वासना के कोलाहल से विकृत हो गई है या दबी रह गई है। और इस प्रकार दुनिया सच्चा साहित्य पाने से बहुत कुछ वञ्चित रखी गई है। साहित्य, जो सामानरूपेण सभी की संपत्ति है, उस पर किसी वर्ग-विशेष का अधिकार न हो, वह सत्ता के इङ्गित में बँध कर न चले, वरन् निर्जन वनप्रान्त में मुक्त निर्झरिणी के समान उसकी धारा रूढ़ियों के कगारों को तोड़ती-फोड़ती हुई सहज भाव से प्रवाहित हो, यही प्रगतिवाद का उद्देश्य है। प्रगतिवाद साहित्य को सर्वसाधारण की वस्तु बनाना चाहता है। प्रगतिवाद साहित्य को उस वन्य प्रकृति के रूप में देखना चाहता है जहाँ सभी का निर्बाध प्रवेश हो, उस राजवाटिका के रूप में नहीं जो किसी व्यक्ति-विशेष की विलास-साधना के अनुकूल प्रहरियों द्वारा रक्षित हो। प्रगतिशील साहित्य वही है जो मानवता की दृष्टि से लिखा गया हो, जिसमें मानव-मात्र की—धनिक-निर्धन, श्रमिक-किसान, राजा-प्रजा, सभी की अनुभूतियों का चित्रण हो। आर्त्त किसानों का करुणक्रन्दन, दलितों के दिल में क्रान्ति की जलती चिनगारी और प्रम तथा वैभव के केलि-कुञ्ज में यौवन की मधु-क्रीड़ा—सभी का इसमें स्थान होगा। वास्तविक प्रगति तो इसी में है, साहित्य की विश्वव्यापकता में। पर एक बात याद रखने की है—संसार में आधिक्य दलितों, दीन दुखियों, श्रमिक-किसानों का ही होने के कारण सच्ची प्रगतिशीलता का यह भी तकाजा है कि साहित्य में आधिक्य उन्ही भावनाओं का हो जो निम्नतर श्रणी के लोगों के हृदय में अथवा जनसाधारण के अन्तस् में उठतीं हों। जनता का चेतना-समुद्र जिन लहरों से आन्दोलित होता हो उन्हीं की अखंड ध्वनि साहित्य-शृंगी के निर्घोष में स्वरित हो क्योंकि साहित्य जनता की अनुभूतियों का भी विषय है, केवल धनिकों की विलास-क्रीड़ा का उपकरण नहीं।

मैं उस साहित्य को साहित्य मानने को तैयार नहीं जो जीवन की वास्तविकता की उपेक्षा करता हो, जो सामाजिक जीवन के संघर्षों, जन समूह की आशा-आकांक्षाओं, स्वप्नों-विचारों, हर्षरुदन की भावनाओं का सच्चा मार्मिक चित्र खींचने के बदले एक काल्पनिक, 'स्वप्निल' मधुमय संसार में पलायन के हेतु मानव को प्रेरित करता है। समाज में उथल-पुथल मची हो, राष्ट्र मिट रहे हों, दीन-दुर्बल जनता कुचली जा रही हो, पददलित मानवता अन्तिम सांसे भर रही हो और हमारे साहित्यिक प्रेम का मायालोक बसावें, मधुचर्चा तथा स्वप्न-कल्पना की छाया में प्राणों की आकुलता मिटाने का स्वांग रच! कैसी विडम्बना!! साहित्य की प्रकृति और स्वरूप-निर्णय के लिए मापदंड जनता है, मुट्ठी भर विलासी धनिक नहीं।

पर आज तक साहित्य में इन्हीं धनिकों की प्रधानता रही है। जो साहित्यकार लक्ष्मी के कृपा-पात्र हैं वे संस्कारवश तथा वैभव से वंचित साहित्य-स्रष्टा रोटियों के लिए धनिक वर्ग पर निर्भर होने के कारण, प्रायः सदा से एक वर्ग-विशेष की ही भावनाओं का चित्रण करते आए हैं। नाटकों और महाकाव्यों के नायक थोड़े ही दिन पहले तक अक्सर राजकुमार अथवा देवता ही होते आए हैं। नायिकाएं या तो स्वर्ग की परियाँ रही हैं या लोकविश्रुत कुल की राजकन्याएँ! कालिदास-भवभूति से लेकर तुलसी और सूर तक यही बात है। जन-जीवन के चित्रण की ओर हमारे साहित्यिकों को ध्यान देने का अवकाश ही कहाँ मिला। रामायण और महाभारत में भी राजवंशों के ही चित्र हैं। यदि केवट और शवरी आते भी हैं तो अपने प्रकृत रूप में नहीं, राम के व्यक्तित्व से अभिभूत भक्त के रूप में। वीरगाथाकाल तो राजाश्रय में पलने वाले कवियों द्वारा आश्रयदाता राजाओं के गुणगान का समय ही था और रीतिकाल युग था विलासिता का सामग्री जुटाने का। धार्मिक काल में कबीर आदि द्वारा प्रवर्त्तित सन्त मत की धारा में दर्शन और उपदेश अधिक हैं, जनता के तत्कालीन जीवन का वास्तविक कलात्मक चित्रण कम। मानव-मनोरागों की व्यंजना का वह उपयुक्त क्षेत्र नहीं। जायसी आदि का प्रेम-काव्य भी राजकुमार-राजकुमारियों की प्रेम-कहानी लेकर ही आगे बढ़ा है। राम और कृष्ण-काव्य के राम और कृष्ण अवतार की असाधारणता लिए हैं। आश्चर्य तो यह है कि भगवान को अवतार भी राजकुल में ही लेना उचित जँचा। कृष्ण ने जन्म कारागार में लिया भी तो बाल्य-जीवन नन्द की वैभव-शाला में बिताने को भाग निकले। क्या दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेम में

ही मधुरता है, गोवर और झुनियाँ के प्रेम में हार्दिक सरसता नहीं? यदि कलकार की आँखें वैभव में ही रस देखती हैं तो मैं कहूँगा उसकी दृष्टि एकांगी है। साहित्य की सामग्री मानवजीवन की जटिलताओं, मानवी-मनोवृत्तियों की क्रीड़ाओं में रहती है, राजसत्ता या अर्थकोष में नहीं।

आप कह सकते हैं, साहित्य मानव की मौलिक भावनाओं का चित्रण ही तो अपना उद्देश्य बनाता है; मनुष्य के रागविरागों का व्यक्तीकरण ही तो उसका लक्ष्य है, और ये रागविराग, मानव की ये अनुभूतियाँ चिरन्तन हैं; सार्वदेशिक हैं। राजा-रंक, पूंजीपति-मजदूर, सभी के हृदय में प्रेम की एक ही आंधी उठा करती है, ममता का एक ही समीर चलता है, करुणा की एक-सी ही वर्षा होती है। सभी के हृदय में एकसा ही वात्सल्य, वीरता और शृंगार का सागर उमड़ता है। तो फिर राजा-प्रजा, धनिक-गरीब का सवाल साहित्य में क्यों उठाया जाय? साहित्य का आधार वर्ग-विभाग क्यों बनाया जाय। जो राजा की भावनाएँ हैं, उसमें प्रजा के हृदय का प्रतिबिम्ब नहीं है क्या?

पर आप जान लें, ये सब कहने की बातें हैं। परिस्थिति-विभिन्नता होने से विचार और भावनाएँ भी भिन्न प्रकार की उठती हैं। राजा के प्रेम और किसान के प्रेम के चित्रण में भिन्नता होगी। राजसी प्रेम में शायद रंगीन वासना का पुट, अधिकार और कृत्रिम उदारता की सजावट रहेगी, कुछ 'कम्प्लेक्स' (Complex), कुछ 'पोज' रहेगा। वह स्वेद-मकरन्द टपकाते हुए, खेत में हल चलाते किसान के पास दुरहरिया की धू धू में रोटी लेकर आई हुई सरल कृषक वालिका के प्रेम से कदापि तुलनीय नहीं। वात्सल्य का चित्रण ही लीजिए। जब सूर ने बालक कृष्ण के हृदय में बैठकर कहा—

मैया, कबहुँ बढ़ैगी चोटी।
कितनी बार मोहि दूध पियत भई,
यह अजहू है छोटी।

तो साहित्य संसार मुग्ध हो गया। आलोचक बोल उठा—यह स्वाभाविक बाल-भावना का चित्रण है, अतः अमर है। सभी बच्चे ऐसे ही सोचते हैं। पर सूर ने अपनी अंधी आँखों से जहाँ इतना सौन्दर्य-दर्शन किया, वहाँ यदि वे आज होते तो यह भी देख सकते कि कितने घरों में आज बच्चे 'दूध' के लिए मचलते-रोते हैं, पर उनकी गरीबिन माँ उन्हें दे पाती हैं केवल दो बूंद आँसू! उसका हृदय फटता है!!

नवयुग के पूर्व तक केवल हिंदी-संस्कृत वाङ्मय ही धनिक वर्ग की भावनाओं को व्यक्त करने का साधन नहीं रहा, वरन् संसार की समस्त साहित्यिक सम्पत्ति ही धनिकों के नियंत्रण में निर्मित हुई। होमर, चॉसर, शेक्सपियर, मिल्टन आदि सब में हम यही पाते हैं। गाल्सवर्दी, बर्नार्ड शॉ की बात और है—ये आधुनिक युग की उपज हैं, जब प्रगतिशीलता की भावना ने हमारी चिर तंद्रित पलकें खोल दीं। हिन्दी में भी आज का साहित्य प्रेमचन्द, पन्त, दिनकर आदि के प्रयास से बहुत कुछ प्रगतिशीलता की ओर मुड़ा है।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि प्रगतिवाद अपने दस-बीस वर्षों के छोटे से जीवन में ही बहुत बदनाम भी हो चला है। प्रगतिवाद का यथार्थ चित्रण, उसकी वर्गगत कटुता, धनिकों पर निर्भीक आक्षेप आदि के कारण प्रगतिवादी रचनाओं में जो अपेक्षाकृत मधुरता का अभाव पाया जाता है, उसे देख कई आलोचक यह पुकार मचाने लगे हैं कि प्रगति के नाम पर कला की हत्या हो रही है, राजनीतिक कटुता की वेदी पर साहित्यिक सरसता का बलिदान किया जा रहा है। इस आक्षेप का कारण है। और यह आक्षेप एक हद तक है भी ठीक, पर सर्वांश में नहीं।

बात यह है कि साहित्य अपने युग का प्रतिबिम्ब हुआ करता है। तत्कालीन समाज के भावनाओं-आन्दोलनों का ही सहारा ले युग-साहित्य मानव की चिर-प्रवृत्तियों को भी व्यक्त करता है। साहित्य में चिर और अचिर का सामंजस्य अपेक्षित है। मुसलमानी आक्रमण और अनाचारों की प्रतिक्रिया के रूप में धार्मिक युग का साहित्य बना था। आज भी यदि प्रगतिवाद के मूल में कोई राजनीतिक कारण हो तो इसमें न तो आश्चर्य है और न अनौचित्य; क्योंकि राजनीति सामाजिक जीवन का आवश्यक अंग है।

साहित्य में प्रगतिवाद का जन्म ही जन-समूह की राजनीतिक चेतना के फलस्वरूप हुआ। चिर-सुषुप्त मानवता जाग पड़ी और उसने मुट्ठी भर धन-कुबेरों के इशारे पर नाचने से इन्कार कर दिया। जनसमूह ने अपने जीवन की बागडोर स्वयं अपने हाथों में ली और अपने शोषक सत्ताधारियों के विरुद्ध इन्कलाब घोषितकिया। पथ-प्रदर्शन मार्क्स और एंजिल्स कर गए थे। रूस में लेनिन इस जनजागरण के नेता बने और एक नई चेतना फैल गई। साहित्य में भी जनता के हृदय में उठती इन लहरों का प्रतिबिम्ब पड़ा और फलस्वरूप प्रगतिवाद का जन्म हुआ। अतः रूढ़ अर्थ में प्रगतिवाद निश्चय ही मार्क्स के वर्ग-युद्ध पर अपना आधार रखता है। इसी हेतु उसमें संसार की

मानवता को कुचलने वाले, अब तक उसे पददलित रखने वाले धनिक-वर्ग के प्रति तीव्रता एवं कटुता स्वाभाविक ही है।

प्रगतिवाद का, इस दृष्टि से, 'वाद' के रूप में एक छोटा-सा इतिहास है। १९३५ में लन्दन में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई। "इसके पाँच मूल प्रवर्त्तकों में डा० मुल्कराज आनन्द और श्री सज्जाद ज़हीर भी थे। सर्व प्रथम सम्मेलन १९३५ में पेरिस में हुआ। सभापति थे सुप्रसिद्ध उपन्यासकार ई० एम० फोरे-स्टर। भारत में, १९३६ में प्रेमचन्द के सभापतित्व में इसका पहला अधिवेशन लखनऊ में हुआ और दूसरा १९३६ में कलकत्ते मे। रवीन्द्र ने सभापति का आसन ग्रहण किया था।"

भारत में हम प्रेमचन्द और रवीन्द्रनाथ तक को प्रगतिशीलता के हामियों में पाते हैं। भारत में आकर प्रगतिवाद की रूप-रेखा कुछ बदल भी गई है। इसमें भावना और अध्यात्म का भी मेल हो गया है। मार्क्सवाद पर आधारित यूरोपीय प्रगतिवाद 'सत्य' की वेदी पर 'सुन्दर' की उपेक्षा भी कर सकता था और करता था। एक राजनीतिक प्रतिक्रिया द्वारा प्रसूत होने के कारण उसमें एकांगिता अवश्य थी—यथार्थ के चित्रण में वह इतने हद तक जाता था कि साहित्य का महत्व और काव्य का काव्यत्व उसमें खण्डित हो जाता था। इसलिए प्रगतिवाद को 'मधु चाटने और फूलों की रूह सूंघने' वालों ने बदनाम किया—उस पर साहित्यिक कला का गला घोंटने का आक्षेप किया। पर भारत में आकर प्रतिक्रिया का रोष कुछ ठंढा हुआ। भारतीय भावात्मक प्रगतिवाद लोक-जीवन की वास्तविक अनुभूतियों के चित्रण को ही लक्ष्य बनाकर मानवता का नया साहित्य प्रस्तुत कर सकेगा, इसमें सन्देह नहीं।

गुप्तजी की प्रगतिशील-भावना

साहित्य में प्रगतिशीलता एक उगते हुए राष्ट्र की जीवन-शक्ति है। प्रगतिशील साहित्यकार की लौह-लेखनी द्वारा उसके राष्ट्र की आशा-आकांक्षाओं, आदर्शों, प्रेरणाओं को वाणी मिलती है; इसी वाणी में युगधर्म मुखरित होता है।

प्रगतिवाद की कोई निश्चित रूपरेखा नहीं हो सकती। इसे आजकल पाश्चात्य मार्क्सवाद पर आधारित माना जा रहा है। युग के साथ ही प्रगतिशीलता की भावना में भी परिवर्तन होता ही है। किसी युग-विशेष में प्रगतिशील भावना हम उसे ही कहेंगे जिसके द्वारा उस युग में राष्ट्र की सामूहिक उन्नति में प्रगति मिले, विश्व की उन्नत्योन्मुख शक्तियों को जीवन मिले। इस दृष्टि से आज से सदियों पहले जो प्रगतिशील था उसमें हम आज प्रतिक्रियावाद की सड़ी गन्ध पा सकते हैं, और जो कल कल्पनातीत था, असम्भाव्य था, व्यावहारिकता की परिधि के परे था, वही आज के प्रगतिवाद का आदर्श भी हो सकता है।

प्रगति निश्चय ही वीरत्व की भावना पर अवलम्बित है। सदियों की अथक यात्रा के फलस्वरूप मानव की वीर-भावना भी आगे बढ़ी है। यह प्रगति हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में भी अलक्ष्य नहीं। आज हम वीरगाथा अथवा चारण काल के कवियों का भाँति प्रेमिकाओं के लिए होने वाले युद्धों के वर्णन में वीरता का आभास नहीं पाते और न केवल क्रूर करवाल को रिपु-रुधिर से प्लावित करके ही हमारी वीरता की इतिश्री हो जाती है। वह तो पाशविक वीरता थी। सभ्यता के विकास ने हमें सच्ची वीरता की आराधना सिखलाई। इसका अभिनव रूप गांधीवाद में प्रस्फुटित हुआ है। अब हम दुष्ट का नहीं उसकी दुष्टता के विनाश के आकांक्षी रहते हैं, हिंसक पशुओं की भाँति अस्त्र-शस्त्रों से शत्रु के जीवन का अन्त करना हमारा उद्देश्य नहीं होता, बल्कि प्रेम

के द्वारा, स्वयं दुःखों का स्वागत करते हुए, अपना बलिदान तक करते हुए उसके हृदय-परिवर्तन में हम विश्वास करते हैं। मानव की मानवता तो इसी में है।

आज के प्रगतिशील साहित्य में इन्हीं भावों की प्रतिष्ठा अपेक्षित है। निम्न और दलित वर्गों के हिमायती प्रगतिवाद के वास्तविक रूप के प्रस्फुटन के लिए आज यह आवश्यक है कि हमारे कवि इसी प्रकार की आत्म-बलिदानात्मक वीर-भावना को साहित्य में आश्रय दें। आज हम चाहते हैं कि हमारे युग का कवि यह कह सके:—

"चाहती हो बुझना यदि आज,
होम की शिखा बिना सामान;
अभय हो कूद पड़ूँ जय बोल
पूर्ण कर लूं अपना बलिदान।" —दिनकर

हमें आज इसी 'अभय' की आवश्यकता है। प्रस्तुत लेख में देखना है कि कविवर मैथिलीशरण गुप्त में प्रगतिशील भावना कहाँ तक पोषित, पल्लवित, पुष्पित हुई है और इस आधार पर हम उन्हें युग का प्रतिनिधि कवि कह सकते हैं अथवा नहीं। हमें देखना होगा कि गुप्तजी ने हमारे वर्त्तमान जीवन की रागिनी कहाँ तक गाई है, हमारे सुख-दुःखों का, हमारी राष्ट्रीय आशा-आकांक्षाओं का चित्रण किस हद तक किया है और वर्त्तमान युग की वीर-भावना की अभिव्यक्ति किस रीति से की है।

गुप्तजी की राष्ट्रीयता, उनकी वीर-भावना, उनकी प्रगतिशीलता का क्रमशः उत्तरोत्तर विकास हुआ है। अपनी प्रथम रचना 'भारत-भारती' में जहाँ वे अपनी काव्यवीणा में भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों का स्वर भरते हैं, उनकी उस वीर-भावना का चरम विकास नहीं दिखाई देता जो वर्तमान युग कीप्रगतिशीलता के लिए अपेक्षित है। उसमें उन्होंने भारत को समष्टिरूप मे लिया है अवश्य, उनका दृष्टिकोण राष्ट्रीय अवश्य है, पर उसमें वीरता का वह उदार पक्ष हम नहीं देखते। उसमें विगत वैभव पर विलाप अधिक है, भावी का क्रियात्मक उद्बोधन कम। फिर भी, जैसी कि उन्होंने इच्छा की थी—

'भगवान भारतवर्ष में गूंजे हमारी भारती।'

उनकी 'भारती' सारे भारतवर्ष में गूंजी और उससे राष्ट्र की साहित्य-प्रगति में सहायता भी मिली। वह होमरूल का जमाना था। उस समय के लिए शायद वही भावना प्रगतिशील रही हो। पर युग भी तेजी से आगे

बढ़ा और गुप्तजी भी बढ़ते गए। जयद्रथ-वध, किसान, शक्ति, स्वदेश-संगीत, हिन्दू, गुरुकुल आदि में वे विविध काल की विवध माँगों को पूरी करते हुए 'साकेत' तक पहुँचे। साकेत में हम उनकी प्रगतिशीलता का चरम रूप देखते हैं। साकेत में आधुनिक गाँधीयुग की भावनाओं और आदर्शों ने इनकी कविता में स्थान पाया। यहाँ हम उन्हें युग के प्रतिनिधि कवि के रूप में देखते हैं। साकेतकार केवल काव्य की एक उपेक्षिता (उर्मिला) के ही जीवन को प्रकाश में लाने का प्रयास नहीं करता, वरन् हमारे युग को वाणी भी प्रदान करने की चेष्टा करता है। उस वाणी में आधुनिक युगधर्म की घोषणा है, भावी का मंगल-गान है।

'गुप्तजी की काव्य धारा' के लेखक 'गिरीश' जी के विचारों से हम सहमत नहीं जब वे कहते हैं कि "जहाँ तक साहित्य-सृष्टि द्वारा समाज के प्रस्तुत और आगामी आदर्श को अनुरंजित रूप देने का सम्बन्ध है वहाँ तक गुप्त जी को आधुनिक काल के प्रतिनिधि कवि के रूप में भी ग्रहण नहीं कर सकते।" क्योंकि हम देखते हैं, साकेत तक पहुँचते ही गुप्तजी की कविता में बहुत कुछ वह जीवन, वह शक्ति आ चुकी है जो हमारी नवजाग्रत राष्ट्रीयता को पोषण दे सके और हमारे प्रगतिशील तरुण वीरों को आदर्श वीरत्व की भावना से अनुप्राणित कर सके।

आज आदर्श वीरत्व, जैसा कहा जा चुका है, ११ वीं सदी की वीरता नहीं; उसमें उच्छृंखलता नहीं, संयम है; द्वेष और रोष नहीं, सद्भावना और प्रेम है; शत्रु की अनिष्ट-कामना नहीं वरन् आत्म-बलिदान की प्रोज्ज्वल प्रेरणा है। आज का वीर 'सत्य' का 'आग्रह' करता है। आज हमारे राष्ट्रीय वीर का आदर्श शिवाजी नहीं वरन् महात्मा गांधी हैं। अब हम गांधीवाद के ही पृष्ठाधार पर साकेत की राष्ट्रीय, वीर और प्रगतिशील-भावना का अध्ययन करेंगे।

भारत में वर्तमान युग की प्रगतिशीलता का सर्वप्रथम तकाजा है जन्म-भूमि के प्रति प्रेम। हाँ, उसमें दूसरों की जन्मभूमि के प्रति घृणा न हो। साकेतकार ने जन्म-भूमि के प्रति प्रेम और श्रद्धा के उद्गार स्वयं राम के मुख से निकलवाए हैं—

> जन्मभूमि, ले प्रणति और प्रस्थान दे,
> हमको गौरव, गर्व तथा निज मान दे।

× × ×

मैं हूँ तेरा सुमन, चढ़ूँ—सरसूँ कहीं,
मैं हूँ तेरा जलद, बढ़ूँ—बरसूँ कहीं।

कितना अपनापन है, कैसा प्रेम !

प्रो० (अब डा०) नगेन्द्र के शब्दों में, 'साकेत की देश-भक्ति भी गान्धीजी की देशभक्ति के समान निश्चित रूप से धार्मिक है।' अन्याय और अधर्म कवि को किसी प्रकार सह्य नहीं—

पर वह मेरा देश नहीं,
जो करे दूसरों पर अन्याय !

वह एक प्रकार से विश्वबन्धुत्व की सीमा से जाकर मिल जाती है—

किसी एक सीमा पर बँधकर
रह सकते हैं क्या ये प्राण !
एक देश क्या, अखिल विश्व
का तात, चाहता हूँ मैं त्राण।

हमारे वर्त्तमान जीवन की प्रधान समस्याएँ राजनीतिक हैं, क्योंकि आज हमारी राजनीति पर ही अर्थनीति और समाजनीति आधारित है। अतः यह आवश्यक है कि हमारे युग के प्रतिनिधि कवि के राजनीतिक विचार यथेष्ट रूप से प्रगतिशील हों। साकेतकार इस विषय में पीछे नहीं ! यद्यपि वह भारत में प्रजातंत्र में अनियंत्रित अधिकार का हिमायती नहीं—

निज रक्षा का अधिकार रहे जन जन को,
सबकी सुविधा का भार किन्तु शासन को !

फिर भी राजतंत्र में व्यक्ति के नियंत्रण का उद्देश्य समष्टि रूप से सभी की कल्याण-सिद्धि और मुक्ति ही हो सकता है—

जनपद के बन्धन मुक्ति हेतु हैं सबके,
यदि नियम न हों, उच्छिन्न सभी हों कब के।

वे अनियंत्रित राजतंत्र जिसमें राजा को ही उत्तरदायित्व-विहीन सर्वाधिकार हो, स्वीकार नहीं करते। शासन सभी पर है—

शासक पर भी, वह भी न फूल कर ऊले,

राज्य तो प्रजा की थाती है, वह भोग्य नहीं। राम के शब्दों में—

राज्य है प्रिये, भोग या भार ?

× × ×

प्रजा की थाती रहे अखण्ड।

× × ×

मात्र दायित्व हेतु है राम।

इसी राम-राज्य का आदर्श गान्धीजी का स्वर्णिम स्वप्न थी।

पर यदि वही राज्य अत्याचारी शासक के हाथों में पड़कर प्रजा की थाती न रह कर भोग की वस्तु हो जाय, तो हमारा क्या कर्त्तव्य होगा, इसे साकेत-कार बड़े जोरदार शब्दों में शत्रुघ्न के मुंह से कहलाते हैं—

राज्य को यदि हम बना लें भोग,
तो बनेगा वह प्रजा का रोग।
फिर कहूँ मैं क्यों न उठकर ओह !
आज मेरा धर्म राजद्रोह !!

× × ×

राज्य में दायित्व का ही भार,
सब प्रजा का वह व्यवस्थागार।
वह प्रलोभन हो किसी के हेतु,
तो उचित है क्रान्ति का ही केतु।

कभी-कभी विप्लव और अराजकता भी कर्त्तव्य हो जा सकते हैं—

हा ! अराजक भाव, जो था पाप,
कर दिया है पुण्य तुमने आप।

× × ×

राजपद ही क्यों न अब हट जाय

× × ×

विगत हों नरपति, रहें नर-मात्र,

× × ×

सब जिएं ज्यों एक ही कुल भुक्त !

इन क्रान्तिकारी विचारों की साम्यवाद अथवा अराजकतावाद (anarchism) से तुलना कीजिए।

पर इस क्रान्ति की सदा आवश्यकता नहीं है। उसे कवि आदर्श व्यवस्था भी नहीं मानता। आदर्श तो राम राज्य ही हो सकता है—

किन्तु राजे राम राज्य नितान्त—
विश्व के विद्रोह करके शान्त !
× × ×
तात, राज्य नहीं किसी का वित्त;
वह उन्हीं के सौख्य शान्ति निमित्त—
स्वर्बलि देते हैं उसे जो पात्र,
नियत शासक लोक-सेवक मात्र !

आधुनिक युग का यही उचिततम सम्भव आदर्श है !

गुप्तजी की वीरता में प्रगतिशीलता के तत्त्व वर्त्तमान हैं—उनकी वीर-भावना भी आधुनिक-युग के आदर्शों के अनुरूप ही है ! युद्ध केवल युद्ध के लिए श्रेयस्कर नहीं । विश्व-शान्ति की रक्षा के निमित्त ही युद्ध की आवृत्ति आवश्यक हो सकती है—

इसी हेतु है जन्म टंकार का,
न टूटे कभी तार झंकार का ।

जब लक्ष्मण के शक्तिहत होने का समाचार सुन कर शत्रुघ्न शंखनाद करते हैं, तो उस भीषण घोष को सुनते ही सारी नगरी रण-प्रयाण को तैयार हो जाती है । माताएँ और पत्नियाँ अपने पुत्रों और पतियों को उत्साहपूर्वक रण के निमित्त विदा देतीं हैं । यह है आधुनिक युग का तकाजा । यही नहीं, कैकेयी भी साथ चलने को तैयार हो जाती है और फिर उर्मिला सेनानी बन कर आगे बढ़ने लगती है । नवयुग के स्वतंत्रता-संग्राम में भी स्त्रियाँ पीछे कैसे रह सकती हैं ।

भरत के निम्नांकित वाक्यों में आजादी के पुजारी आधुनिक तरुण के अन्तरतम की आवाज है—

भारत - लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में,
सिन्धु पार वह बिलख रही है व्याकुल मन में ।
× × ×
उठो इसी क्षण शूर, करो सेना की सज्जा,
रह न जाय अब कहीं, किसी रावण की लंका ।

'किसी रावण की लंका' में विदेशी सत्ताधारी शोषकों की व्यञ्जना है !

भारत की उपर्युक्त आकांक्षा असम्भव भी नहीं । वीरों के लिए, असम्भव, शब्द का अस्तित्व ही नहीं है—

जहाँ हाथ में लौह, वहाँ पैरों में सोना।

पर वह सोना अनधिकार लूट से प्राप्त नहीं होना चाहिए। शत्रुघ्न के इन वाक्यों का--

अब क्या है ? बस, वीर, बाण से छूटो-छूटो।
सोने की उस शत्रुपुरी लंका को लूटो।—

खंडन करती हुई उर्मिला कहती है—

—"नहीं, नहीं, पापी का सोना,
यहाँ न लाना, भले सिन्धु में वहीं डुबोना।
सावधान, वह अधम-धान्य-सा धन मत छूना !"

युद्ध में जाना है तो केवल इसी हेतु कि—

विन्ध्य-हिमालय-भाल भला ! झुक जाय न वीरो,
चन्द्र-सूर्य-कुल-कीर्त्ति-कला रुक जाय न धीरो !

क्योंकि—

पावें तुम से आज शत्रु भी ऐसी शिक्षा,
जिसका अथ हो दण्ड और इति दया-तितिक्षा !

भारत का यही प्राचीन काल से आदर्श रहा है और अब भी है। शत्रु से 'बदला' लेने की हमारी नीयत ही कहाँ रहती ? हमारी वीरता में लुटेरे की धनलिप्सा नहीं, आर्यों की न्यायप्रियता रही है। क्योंकि स्वयं दुःख झेलकर भी वसुधा को सुख-सम्पन्न करना ही हमारा चिरन्तन लक्ष्य है ! ऐसे वीरव्रती लोगों को ही हम हृदय के सर्वोच्चासन पर स्थान देंगे। देखिए:—

मनुज दुग्ध से, दनुज रुधिर से,
अमर सुधा से जीते हैं।
किन्तु हलाहल भवसागर का,
शिव-शंकर ही पीते हैं॥

हमें आज शिवशंकर होना है तभी हम प्रगतिपथ के उपयुक्त पथिक होगें। बिहार का प्रगतिशील युवक कवि दिनकर कहता है—

लेना अनल-किरीट भाल पर
ओ आशिक होने वाले !
कालकूट पहले पी लेना
सुधा - बीज बोने वाले !

ऐसी ही पंक्तियाँ आज के नवयुवक समाज को अनप्राणित करने में समर्थ हैं—

साकेतकार की प्रगतिशीलता के और भी कितने पहलू हैं, चिरन्तन ऐतिहासिक उक्तियों और राजनीतिक सत्यों एवं स्वयंसिद्धियों की भी कमी नहीं है। पर विस्तारभय से उनके उदाहरण नहीं दिए जा रहे।

केवल एक प्रमुख बात और। आधुनिक प्रगतिवाद समाज की निम्न श्रेणी के लोगों की रहनुमाई का दावा करता है। गान्धीवाद में भी अछूतोद्धार मूलक विचारों का बोलबाला है। गुप्तजी में भी हम इस भाव का अभाव नहीं पाते। चित्रकूट में सीता कोल-किरात-भिल्ल बालाओं के साथ भी स्नेह और समानता का व्यवहार करती है--

> ओ भोली कोल किरात भिल्ल बालाओ
> मुझको कुछ करने योग्य काम बतलाओ,
> लो मेरा नागर भाव, भेंट जो लाया।

गान्धीजी के प्रिय अस्त्र चरखा की भी उपेक्षा नहीं की गई है—

> तुम अर्द्ध-नग्न क्यों रहो अशेष समय में,
> आओ हम कातें-बुनें गान की लय में।

इन बातों को मद्देनजर रखते हुए हम देखते हैं कि गुप्तजी की प्रगतिशीलता आधुनिक भारत के सर्वथा अनुकूल है। वह भारतीय राजनीति और समाजनीति की सबसे बड़ी शक्ति गान्धीवाद द्वारा अनुरञ्जित है—उसमें पाश्चात्य के कोरे खोखले प्रगतिवाद की भाँति क्षुधित किसानों और मजदूरों के बीभत्स, अतिरञ्जित चित्र भले ही न हों।

गुप्तजी की प्रगतिशीलता को यदि हम भावात्मक प्रगतिवाद कहें तो अनुचित न होगा क्योंकि यह मार्क्स के इतिहास और वर्ग-संघर्ष सम्बन्धी भौतिकवादी विचारों पर आधारित न होकर हृदय की वीर-भावना पर अवलम्बित है।

महादेवी की काव्य-साधना

महादेवी के गीत उस पूत निर्झरिणी के समान हैं, जो भू-गर्भ में विलीन हो अन्दर ही अन्दर सदियों की यात्रा तय करने के उपरान्त अनायास फूट निकली हो। इनकी वाणी में मध्ययुग के भक्त हृदय की चिर मौन साधना मुखरित हो उठी है। शृंङ्गारकाल में जो स्रोत सूख सा गया था, उसे महादेवी ने अपने गीतों के द्वारा आज पुनः प्रवाह की प्रेरणा दी। उन गीतों में व्यक्ति के अन्तरतम में गूंजती अनन्त चेतन सत्ता की प्रतिध्वनि है। उनमें उद्देश्य है, साधना है, उपासना का पावन संयम है। रामकुमार वर्मा की कविताओं की भाँति उनमें श्रान्तविहग के सन्ध्याकालीन 'चह-चह' का सा उद्देश्यहीन उल्लास नहीं। उनके सांध्यगीत में 'किसी अलौकिक चिर सुन्दर' की प्रतीक्षा है, उसके अभाव में वेदना है, पीड़ा है, तड़प है !!

साधना की इसी संगीतमय रूपरेखा के कारण उनके गीत रहस्यवाद की उच्चतम अभिव्यक्ति से समन्वित हैं। छायावाद मात्र ही उनमें नहीं, वरन् विशुद्ध रहस्यवाद की पराकाष्ठा भी है। छायावाद और रहस्यवाद के संबंध में अगणित भ्रांतियाँ फैली हुई हैं। कोई छायावाद-रहस्यवाद को पर्यायवाची समझे बैठा है, कोई छायावाद को अभिव्यञ्जनावाद की कोटि में रखने को उद्यत है, तो किसी को समझने का प्रयत्न किए विना ही छायावाद रहस्यवाद की छीलालेदर करने में मज़ा आता है। वस्तुतः छायावाद काव्य में उस दृष्टिकोण को कहना अधिक संगत है जिसमें बाह्य जगत् और व्यक्ति के आन्तरिक जगत् में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की स्थापना होती है। इसके आगे रहस्यवाद में उस स्थिति का चित्रण रहता है, जब ससीम आत्मा विश्व के सौन्दर्य में असीम परमात्मा के चिर-सुन्दर रूप का दर्शन कर उससे तादात्म्य-स्थापना के निमित्त आकुल हो उठती है और

माधुर्य भाव पर आधारित प्रेम की साधना से उस अनन्त अगोचर से तदाकार होने का प्रयास करती है। रहस्यवाद के मूल में विशुद्ध दार्शनिक अद्वैतवाद रहता है। चिन्तन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, वही काव्य-जगत् में कल्पना, भावना और अनुभूति के सहारे रहस्यवाद की रूप-रेखा ग्रहण करता है। अतः रहस्यवाद में निर्गुण की ही उपासना सम्भव है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—"राम-कृष्णोपासकों की (सगुण) भक्ति रहस्यवाद की कोटि में नहीं आ सकती[1]।" निर्गुण के प्रेम में निहित विरोधाभास ही रहस्यवाद की रहस्यमयता के मूल में है।

महादेवी की कविताओं में भी इस तत्व की स्वाभाविक प्रचुरता है। 'उनकी काव्य-वेदना आध्यात्मिक है। उसमें आत्मा का परमात्मा के प्रति आकुल प्रणय-निवेदन है। कवि की आत्मा, मानों इस विश्व में बिछुड़ी हुई प्रेयसी की भाँति अपने प्रियतम का स्मरण करती है। मीरा ने जिस प्रकार उस परम पुरुष की उपासना सगुणरूप में की थी, उसी प्रकार महादेवीजी ने अपनी भावनाओं में उनकी आराधना निर्गुण रूप में की है। उसी एक का स्मरण, चिन्तन एवं उसके तादात्म्य होने की उत्कण्ठा, महादेवीजी की कविताओं के उपादान हैं[2]।"

यद्यपि हिन्दी में रहस्यवाद की परम्परा के आदि प्रवर्त्तक कबीर माने जा सकते हैं, फिर भी उनके काव्य के दार्शनिकता से बोझिल होने के कारण वे विशुद्ध काव्यात्मक रहस्यवादी नहीं माने जा सकते। जायसी की प्रबन्धात्मकता उनकी रहस्यभावना में बाधक हुई। फलतः रहस्यवाद का पूर्ण प्रस्फुटन आधुनिक युग में गीति-काव्य के पुनर्जीवन का आधार लेकर ही सम्भव हुआ, और यह हुआ महादेवीजी की ही रचनाओं द्वारा। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी लिखा है—"छायावाद का केवल पहला अर्थात् मूल अर्थ (तात्पर्य 'रहस्यवाद' से है) लेकर तो हिन्दी काव्य क्षेत्र में चलने वाली श्री महादेवी वर्मा ही हैं। पन्त, प्रसाद, निराला इत्यादि और सब कवि प्रतीक-पद्धति या चित्रभाषा शैली की दृष्टि से ही छायावादी कहलाए[3]।" इस प्रकार महादेवीजी रहस्यवाद के पथ की अकेली पथिक हैं। उनका महत्त्व कम नहीं! उनकी कविताओं का उत्कर्ष ही आधुनिक युग में रहस्यवाद के उत्कर्ष की सीमा है!

---

१ जायसी ग्रंथावली।

२ रायकृष्णदास—'नीरजा' की भूमिका में।

३ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० ८०७।

देखना यह है कि उन्होंने रहस्यवाद को कितना ऊँचा उठाया और रहस्यवाद की कितनी कोटियाँ उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार—"रहस्यवाद दो प्रकार का होता है—भावात्मक और साधनात्मक। हमारे यहाँ का योगमार्ग साधनात्मक रहस्यवाद है। (कबीर के काव्य में इसका अस्तित्व वर्त्तमान है)......भावात्मक रहस्यवाद की भी कई श्रेणियां हैं, जैसे भूतप्रेत की सत्ता मानकर चलनेवाली भावना अथवा परम पिता के रूप में एक ईश्वर की सत्ता मानकर चलने वाली भावना स्थूल रहस्यवाद के अन्तर्गत होगी। (ईसाई सन्तों की रहस्य-भावना दृष्टान्त रूप में है।) अद्वैतवाद या ब्रह्मवाद को लेकर चलने वाली भावना से सूक्ष्म और उच्चकोटि के रहस्यवाद की प्रतिष्ठा होती है।" और महादेवी की भावना इसी अन्तिम कोटि की है।

एक अँग्रेजी विद्वान् के मतानुसार इस भावनात्मक रहस्यवाद के भी निम्नलिखित भेद हो सकते हैं—

१—प्रेम और सौन्दर्य से समन्वित रहस्यभावना, जैसी अंगरेज कवि शेळी और हिन्दी कवि जायसी में विद्यमान है।

२—दार्शनिकता प्रधान रहस्यभावना, जो 'प्रसाद' जी की कविताओं में लक्षित है। कबीर का रहस्यवाद ऐसा ही था।

३—धार्मिक और उपासना-प्रसूत रहस्यभावना, जिसके सम्बन्ध में मीरा का नाम लिया जा सकता है।

४—प्रकृति-सम्बन्धी रहस्यभावना, जो सुमित्रानन्दन 'पन्त' की कविताओं में वर्त्तमान है। अँगरेजी कवि वर्डस्वर्थ की भावना इसी कोटि की थी।

महादेवी की कविताओं में हम चारों तत्त्वों का सुखद समन्वय पाते हैं, यद्यपि उपासना की भावना की प्रधानता है। अनन्त अप्रत्यक्ष सत्ता की प्रियतम के रूप में माधुर्यभाव भरित आराधना उनकी कविताओं का प्राण है। प्रेम और सौन्दर्य का समुद्र उनकी निम्नाङ्कित पंक्तियों में तरङ्गित है—

मैं मतवाली इधर, उधर प्रिय
मेरा अब बेला-सा है!
मेरी आँखों में ढल कर
छवि उसकी मोती बन आई;
उसके घन प्यालों में है,
विद्युत् सी मेरी परछाई;

नभ में उसके दीप, स्नेह
जलता है पर मेरा उनमें,
मेरे हैं ये प्राण, कहानी
पर उसकी हर कम्पन में!
यहाँ स्वप्न की हाट, वहाँ अलि छाया
का मेला-सा है! (नीरजा से)

परमात्मा सृष्टि का निमित्त एव उपादान करण भी है, इस दार्शनिक सत्य की व्यंजना संगीत के स्वरों में देखिए—

"बीण भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।"
× × ×
दूर तुमसे हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ।

उपासना का भाव तो पद-पद पर है—

"मधुर-मधुर मेरे दीपक जल,
युग-युग प्रति-दिन प्रति-क्षण, प्रति-पल,
प्रियतम का पथ आलोकित कर।
सौरभ फैला विपुल धूप बन;
मृदुल मोम-सा घुल रे मृदु तन,
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित।
तेरे जीवन का अणु गुल-घुल!
पुलक-पुलक मेरे दीपक जल!"
(नीरजा से)

अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व का ही अर्घ्य आराध्य के चरणों पर चढ़ा देने की यह कैसी आकांक्षा है!

इनकी कविताओं में प्रकृति का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रकृतितत्त्व का विश्लेषण हम आगे चल कर करेंगे। यहाँ एक उदाहरण मात्र दे देना अभीष्ट है—

आज सुनहली बेला!
आज क्षितिज पर जाँच रहा है
तूली कौन चितेरा!
मोती का जल सोने की रज
विद्रुम का रंग फेरा!

क्या फिर क्षण में,
सान्ध्य गगन में।
फैल मिटा देगा इसको,
रजनी का श्वास अकेला!"

('सान्ध्य गीत' से)

इस प्रकार रहस्यवाद के अन्तर्गत समस्त श्रेष्ठ प्रवृत्तियों का समुच्चय उनकी कविताओं में वर्त्तमान है। यहाँ कल्पना की क्रीड़ा द्वारा प्रसूत कृत्रिम भावों की कड़ियाँ मात्र नहीं, यहाँ उपास्य देव के चरणों पर चढ़ाने के निमित्त निर्गन्ध किंशुकों की माला नहीं। शुक्लजी ने महादेवी वर्मा को साम्प्रदायिक रहस्यवादी माना है। 'साम्प्रदायिक' से तात्पर्य है उस प्रकार के कवियों से जिनकी भावानुभूति तक कल्पित होती है, जिनकी वाक्-निर्झरी हृदय के अन्तरतम कोने से नहीं फूटती। अतः स्वाभाविकता का अभाव ऐसे कवियों की वाणी में देखने को अनिवार्यतः मिलता है। पर यह बात महादेवी के सम्बन्ध में कहना हमें तो उचित नहीं जान पड़ता। शुक्लजी से सविनय मतभेद प्रकट कर महादेवी को साम्प्रदायिक रहस्यवादी नहीं मानने का जी चाहता है। क्योंकि उनकी काव्य-कला में साधना की प्रोज्ज्वल आभा है, सहृदयता की वह रस-धारा है जो सच्ची अनुभूति द्वारा प्रसूत जान पड़ती है। भावों की सच्चाई का अभाव यहाँ नहीं है!

क्योंकि, हम यह भी देखते हैं कि उनकी रहस्य-भावना में एक क्रम है, उन्नति की एकरसता है। उनकी विचार-धारा क्रमशः अग्रसर होती है, उनमें कोई व्यवधान नहीं, कोई जल प्रपात-सा आकस्मिक विक्षेप नहीं।

विभिन्न रहस्यवादी कवियों ने रहस्यवाद की भिन्न भिन्न स्तर की अनुभूतियाँ अभिव्यञ्जित की हैं। शुद्ध भावात्मक रहस्यवाद के चार मुख्य स्तरों की क्रमिक अभिव्यक्ति हम महादेवी में पाते हैं। ये रहस्यवाद की चरम अनुभूति के चार सोपान हैं, रहस्य-दर्शन के मार्ग की चार उत्तरोत्तर अवस्थाएँ हैं। ये इस प्रकार हैं—

१—प्रथम अवस्था वह है जब विश्व-प्रकृति में किसी अप्रत्यक्ष सत्ता का आभास पा कवि कौतूहल-मिश्रित जिज्ञासा की अनुभूति प्रकट करता है। इसका उदाहरण 'पन्त' का मौन-निमंत्रण है—

'स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु सा नादान,

विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान;
न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन !

—पन्त (पल्लव)

२—इसके पश्चात् कवि समस्त दृश्य जगत् में एक ही व्यापक सत्ता का आभास पाने लगता है; एक ही तत्व कवि के हृदय से लेकर प्रकृति के अणु-अणु तक में अभिव्याप्त प्रतीत होने लगता है। इसे 'सर्ववाद' (Pantheism) के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है। अंगरेज कवि वर्डस्वर्थ में यही भावना प्रधान थी।

३—तीसरी अवस्था के अन्तर्गत कवि की वह स्थिति आती है, जब उसकी आत्मा विश्व में, प्रकृति में परमात्मा का प्रतिबिम्ब देख कर उसके 'सलोने बिम्ब' के लिए तड़प उठती है। कवि के हृदय में उस चिर सुन्दर प्रियतम के प्रति प्रेम उद्भूत होता है। उसके सामीप्य का अभाव खटकने लगता है, बेचैन बनाने लगता है। वेदना के शतशत दंशन से कवि आहत क्रन्दन कर उठता है।

४— अन्तिम अवस्था वह है, जब कवि अपने व्यक्तित्व के अन्दर ही प्रियतम के अस्तित्व की अनुभूति प्राप्त कर लेता है। फिर दुःख भी सुख में परिणत हो जाता है, काँटे भी फूल बन जाते हैं। विरह और मिलन एकाकार हो जाते हैं। यही समत्वभावना रहस्यवाद का उत्कर्ष है।

महादेवीजी की कविताओं में इन चारों अवस्थाओं ने अभिव्यक्ति पाई है। नीहार में प्रथम, रश्मि में द्वितीय और नीरजा एवं सान्ध्यगीत में तृतीय तथा चतुर्थ अवस्थाएँ मिश्रित रूप से मुखरित हुई हैं। कवयित्री स्वयं कहती हैं—

"नीहार के रचनाकाल में मेरी अनुभूतियों में वैसी ही कौतूहल मिश्रित वेदना उमड़ आती थी, जैसे बालक के मन में दूर दिखाई देने वाली अप्राप्य सुनहली उषा और स्पर्श से दूर सजल मेघ के प्रथम दर्शन से उत्पन्न हो जाती है। रश्मि तो उस समय आकर मिली जब मुझे अनुभूति से अधिक उसका चिन्तन प्रिय था, परन्तु नीरजा और सान्ध्यगीत मेरी उस मानसिक स्थिति को व्यक्त कर सकेंगे जिसमें अनायास ही मेरा हृदय सुख-दुःख में सामञ्जस्य का अनुभव करने लगा।"

नीरजा में भी नीहार की कुतूहल-भावना एक-आध स्थल पर व्यक्त है, जहाँ कवयित्री विश्व के अपरिमित सौन्दर्य और उसके प्रति अपने हृदय के आकर्षण को देख कर कहती है—

जाने किसकी स्मित रूम झूम
जाती कलियों को चूम चूम।
उनके लघु उर में जग, अलसित
सौरभ-शिशु चल देता विस्मित।
हौले मृदु पद से डोल डोल,
मृदु पंखुरियों के द्वार खोल!
कुम्हला जाती कलिका अजान
वह सुरभित करती विश्व घूम!

और भी—

अनुसरण निश्वास मेरे
कर रहे किसका निरन्तर?
चूमने पद-चिह्न किसके
लौटते यह श्वास फिर फिर?

कवि की यह मुग्ध जिज्ञासा आगे चलकर सर्ववाद की सीमा तक पहुँचती है—

उमड़ता मेरे दृगों में
बरसता घनश्याम में जो;
अधर में मेरे खिला नव-
इन्द्रधनु अविराम में जो।

उमड़ते हुए आँसुओं और घुमड़ती हुई मेघमाला का कवि की दृष्टि में एक ही मूल्य है, एक ही कारण, एक ही प्रयोजन! व्यक्तिगत जीवन के हास-रुदन का प्रतिबिम्ब प्रकृति के क्रिया-कालापों में भी दृष्टिगत है! शेली के Epipsychidion में इसी कोटि का रहस्यवाद है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

In solitudes,
Her voice come to me through the
whispering woods
And from the fountains, and
the odours deep
Of flowers··········

महादेवी को भी प्रत्यक्ष जीवन का क्षण-क्षण, दृश्यमान-जगत् का अणु-अणु उसी परोक्ष सत्ता से ओत-प्रोत प्रतीत होता है। उस घट-घट में रमने वाले के बिना संसार का अस्तित्व असंभव था। वही तो जड़-चेतन का आधार है। उस अव्यक्त के बिना यह व्यक्त सत्ता असंभव थी। प्रत्यक्ष से ही परोक्ष सिद्ध है—

क्या न तुमने दीप बाला ?
क्या न इसके शीत अधरों से लगाई
अमर ज्वाला ? (सान्ध्यगीत)

यह निश्चय हो जाने पर कि इस संसार-दीपक को अग्नि-शिखा के ताज से सजानेवाला वही है जिसके 'रवि-शशि', 'अवतंस लोल' हैं कवयित्री को उसे देखने की उत्कण्ठा होती है। यदि सब कुछ वही है, सभी में उसी का आलोक है, तो फिर वह इतना छिपा-छिपा क्यों है ? क्यों नहीं जो परोक्ष है, वह प्रत्यक्ष हो जाता ? महादेवीजी इस पहेली को सुलझाने को व्यग्र हो उठती हैं—

फिर विकल हैं प्राण मेरे।
तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देखलूँ
उस ओर क्या है ?
जा रहे जिस पन्थ से युगकल्प,
उसका छोर क्या है ?
क्यों मुझे प्राचीर बनकर, आज मेरे श्वास घेरे ?

इन पंक्तियों में "व्यक्ति की औत्सुक्यपूर्ण तड़पन—विश्व के रहस्य को विदीर्ण करने के लिए आत्मा का प्रयास है[1]।" जीवन को ही बन्धन समझने वाला प्राणी पहेली को सुलझाने के निमित्त श्वासों को भी पीछे छोड़ जाने में नहीं हिचक सकता। कबीर ने भी कहा है—

जा मरने से जग डरे, मोहि परम आनन्द।
कब मरिहौं कब पाइहौं, पूरन परमानन्द॥

इसी भावना की अनुभूति के पश्चात् महादेवी की विरह-साधना आरम्भ होती है। चिरन्तन असीम होते हुए भी व्यक्ति-रूप में सीमा बन्धन उन्हें खलता है—

---

१ डा० विश्वनाथ प्रसाद।

सिन्धु की निस्सीमता पर लघु लहर का लास कैसा ?

और वे असीम से एकाकार होने को आकुल हो उठती हैं। असीम यहीं से प्रियतम रूप में आया है जिसके समक्ष वह प्रणय-निवेदन करती हैं, गिड़गिड़ाती हैं, आँसू बहाती हैं। क्षण भर के लिए भी प्रियदर्शन के हेतु वे बेचैन हैं—

'तुम्हें बाँध पाती सपने में।

तो, निज जीवनप्यास बुझा लेती उस छोटे क्षण अपने में !'

(नीरजा)

उसी प्रिय की आराधना, उसी की उपासना उनके जीवन का लक्ष्य होता है। अपने समग्र व्यक्तित्व को वह अपने निराकार प्रभु के चरणों में समर्पित कर देंगी—

"प्रिय मेरे गीले नयन बनेंगे आरती।
श्वासों में सपने कर गुम्फित,
वन्दनवार वेदना - चर्चित,
भर दुख से जीवन का घट नित,
मूक क्षणों में मधुर भरूँगी भारती।"

विरह-वेदना इतनी बढ़ जाती है कि प्रियतम की ज्वाला में शलभ के समान जलना भी उन्हें श्रेयस्कर ही प्रतीत होता है—

"क्यों जग कहता मतवाली ?
अलि ! मैंने जलने में ही जब जीवन की
निधि पा ली।"

महादेवी ने विरह की तीव्रता की अभिव्यक्ति बिहारी आदि की भाँति ऊहा या दूरारूढ़ कल्पना द्वारा नहीं की है। वह हास्यास्पद नहीं होने पाई है। कवयित्री की मर्म-व्यथित उक्तियाँ सीधे हृदय को स्पर्श करती हैं—

"मेरे सजल मुख देख लेते।
यह करुण मुख देख लेते !

× × × ×

घुल गई इन आँसुओं में
देव जाने कौन हाला !
झूमता है विश्व पी पी
घूमती नक्षत्र- माला;

साध है, तुम
बन सघन तम
सुरँग अवगुंठन उठा
गिन आँसुओं की रेख लेते।''

(सान्ध्य-गीत)

अपनी वेदना की व्याप्ति समग्र विश्व में दिखलाई गई है। नभ-मण्डल में अनवरत घूमने वाले नक्षत्र भी उसके मदिर प्रभाव से मुक्त नहीं। वेदना की हाला पी कर भी कवयित्री प्रियतम के प्रतिरूप जगत् के लिए हृदय का उज्ज्वलतम रस प्रदान करती हैं, मेघ की भाँति जगत् के कल्याण के लिए अपने को बरस देने की आकाङ्क्षा रखती हैं—

"मैं नीर भरी दुख की बदली।
रजकण पर जलकण हो बरसी
नव-जीवन अंकुर बन निकली।"

फिर भी कवयित्री एक साधिका हैं; संसार के लिए आत्मदान देकर भी सांसारिकता के स्पर्श से परे। संसाररूपी शलभ उनकी साधना की ज्वाला से भस्म भी हो सकता है। अतः लौकिक प्रेम उन्हें स्वीकार नहीं—

"शलभ, मैं शापमय वर हूँ,
किसी का दीप निष्ठुर हूँ।
ताज है जलती शिखा,
चिनगारियाँ शृंगार-माला,
ज्वाल अक्षय कोष सी,
अंगार मेरी रंगशाला;
फिर कहाँ पालूँ तुझे, मैं मृत्यु मन्दिर हूँ।"

जो एक को समर्पित हो चुकीं वह दूसरे के लिए जीवन हो भी कैसे सकती हैं!

इस साधना-पथ पर कवयित्री के सुख-दुख अपने हैं। जगत् के दृष्टिकोण से जो सुख है, वही साधिका के लिये दुख अथवा उपेक्षा का विषय भी हो सकता है—

"पंकज कली!
मधु से भरा विधु पात्र है,
मद से उनींदी रात है,

किस विरह से अवनत-मुखी
लगती न उजियाली भली !"

इस गीत में कवयित्री ने साधिका के जीवन-यापन का आदर्श प्रस्तुत किया है—केन्द्रीभूत प्रेम, सांसारिकता के प्रति विराग भावना, ऐंद्रिक सुखों का त्याग ! इसीलिए उनकी कविता पूर्णतया आध्यात्मिक है ।

वेदना भी उनकी ऐसी है जो सांसारिक सुखों से नहीं मिटती है। वह मिटेगी तो उसी प्रियतम के दर्शन से । जब तक वह उन्हें प्राप्य नहीं तब तक वेदना ही उनकी संगिनी है--

"प्राण आकुल के लिए
संगी मिला केवल अंधेरा ।
मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ !"

वेदना का उनके जीवन में अत्यधिक महत्त्व है । वेदना में जलते-जलते वह वेदना ही को प्यार करने लगती हैं, वही उनके जीवन की निधि बन जाती है—

"मधुबेला है आज, अरे तू जीवन-पाटल फूल !
डर मत रे सुकुमार ! तुझे दुलराने आएँ शूल !"

और तब विरह में ही मिलन, दुख में ही सुख, तिमिर में ही आलोक की प्रतीति उन्हें होने लगती है । रहस्यवाद की भावना का उत्कर्ष-विन्दु तभी पहुँचता है जब सुख-दुख एक ही तत्त्व से निःसृत से अनुभत हों, जब प्रियतम के तादात्म्य का अनुभव हृदय के अन्तरतम में ही होने लगे । इसी अवस्था की अभिव्यञ्जना वे इस रूप में करती हैं—

"शून्य मंदिर में बनूँगी, आज मैं प्रतिमा तुम्हारी ।
अर्चना हो शूल भोलें,
क्षार दृगजल अर्घ्य होलें,
आज करुणास्नात उजला दुःख हो मेरा पुजारी !"

'मेरा पुजारी' क्योंकि मेरे तेरे का भेद ही मिट गया, अब तो आराधिका ही आराध्यमयी बन गई, उसी की प्रतिमा ! अपने में प्रियतम की अनुभूति उसे पूर्णतः हो गई है । कवयित्री संसार को संबोधित कर कहती हैं—

"मैं किसी की मूक छाया हूँ,
न क्यों पहचान पाता !

बोलता मुझ में वही, जग
मौन में जिसको बुलाता !"

अथवा—

"हो गई आराध्यमय मैं विरह की आराधना ले ।"

सुख-दुख में इसी समता को भगवान् कृष्ण ने गीता में सर्वश्रेष्ठ योग कहा है। इस स्थिति की प्राप्ति के बाद फिर कुछ भी पाने को नहीं रहता। अतः साधिका के जीवन में भी उल्लास है, क्योंकि अब—

"तिमिर में वे पदचिह्न मिले ।
एक-एक आँसू में शतशत
शतदल स्वप्न खिले !
सजनि ! प्रिय के पदचिह्न मिले !"

महादेवी की कविताओं के सम्बन्ध में एक बात महत्त्व की और कहनी है। वह है उनकी काव्य-भावना के उपकरण के सम्बन्ध में। वे उपकरण तीन रूपों में हैं—

१—प्रियतम के रूप में परमात्मा ।

२—साधिका अथवा प्रेयसी के रूप में आत्मा ।

३—दूती अथवा अन्य कई रूपों में प्रकृति ।

प्रथम दो का यथेष्ट विश्लेषण उपर्युक्त पंक्तियों में हो चुका। अब तृतीय का स्पष्टीकरण अभीष्ट है।

प्रकृति काव्य में निम्नलिखित रूपों में आ सकती है—

(१) निरपेक्ष चित्रण जहां प्रकृति की अनुपम शोभा-सुषमा का दिग्दर्शन मात्र ही उद्देश्य हो।

(२) घटना या भावना-विशेष के पृष्ठाधार के रूप में प्राकृतिक वर्णन।

(३) मानव-भावनाओं से अनुरञ्जित प्रकृति-वर्णन, जब प्रकृति मनुष्य को सुख में सुखी और दुख में दुखी दिखाई दे, जिसे Ruskin ने Pathetic fatlacy (भावनात्मक भूल) कहा है। अथवा वह वर्णन जिसमें प्रकृति में मानवीय व्यापारों का आरोप हो।

(४) उद्दीपन के रूप में प्रकृति-वर्णन।

(५) प्रकृति को व्यक्तित्व प्रदान कर साकार रूप से उसका वर्णन।

सामान्यतः ये ही प्रकृति-वर्णन के भेद काव्यों में पाये जाते हैं। इनमें प्रथम एवं द्वितीय प्रकार का प्रकृति-चित्रण महादेवी के

गीतों में कम मिलेगा। तृतीय, चतुर्थ और पंचम भरपूर मात्रा में हैं। इसके अलावा महादेवी प्रकृति को एक अभिनव रूप में देखती हैं। छायावाद के नव्यतम संस्कारों के फलस्वरूप वह प्रकृति को मानव-जीवन के प्रतिबिम्ब के रूप में भी ग्रहण करती हैं और प्रकृति के विभिन्न अवयवों में निहित किसी दिव्य संदेश की संभावना भी करती हैं। इसके अलावा प्रकृति का निजी जीवन में अन्तर्लेप अथवा अपने जीवन का ही प्रकृति के बीच निक्षेप उनके अनेक गीतों के प्राण हैं। कहीं प्रकृति दूतिका के रूप में भी आई है जो प्रियतम तक साधिका का और साधिका तक प्रियतम का प्रेम-सन्देश वहन करती है। कहीं वह सखी के रूप में है और कहीं साधिका की ही भाँति वह भी प्रिय-मिलन के लिए अभिनव श्रृंगार करती दिखाई पड़ती है।

इनमें से कुछ के उदाहरण देखें—निम्नलिखित पंक्तियों में प्रकृति सद्यःस्नाता नायिका के रूप में है—

"रूपसि, तेरा घन-केश-पाश।
नभ - गङ्गा की रजत-धारा में,
धो आई क्या इन्हें रात!
कम्पित हैं तेरे सजल अङ्ग
सिहरा - सा तन हे सद्यस्नात!
भींगी पलकों के छोरों से
चूतीं बूंदें कर विविध लास!"

वह प्रियतम सभी के हैं। विभावरी भी उन्हीं से मिलने की अभिलाषिणी है। अनिल उसे प्रिय का सन्देश लाता है—

"अनिल घूम देश देश
लाता प्रिय का संदेश,
मोतियों के सुमन-कोष,
वार वार री!
ओ विभावरी!"

साधिका की दूती भी प्रकृति ही है।

"जाने किस जीवन की सुधि ले,
लहराती आती मधुबयार!"

मधु बयार को देखकर उसे प्रियतम की याद आती है और वह मिलन-प्रयाण को प्रस्तुत होती है। साधिका प्रकृति को प्रिय-मिलन के हेतु श्रृंगार

किए देखती है। उस अभिराम शृंगार पर रीझकर वह अपना शृंगार भी प्रकृति के ही उपकरणों से करती है—

"रञ्जित कर दे यह शिथिल चरण,
ले नव अशोक का अरुण राग,
मेरे मंडन को आज मधुर ला
रजनीगन्धा का पराग।
यूथी की मीलित कलियों से अलि दे मेरी
कबरी सँवार।"

इन पंक्तियों में प्रकृति को अपने जीवन में अन्तर्लीन कर लेने का उपक्रम है। इससे जड़-चेतन सभी में एक ही विराट् चेतना की अभिव्याप्ति का संकेत मिलता है। इसी प्रकार प्रकृति में अपने जीवन के निक्षेप का उदाहरण देखिए—

"प्रिय! सान्ध्य गगन मेरा जीवन!
यह क्षितिज बना धुँधला विराग,
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग।
छाया - सी काया वीतराग,
सुधि भीने स्वप्न रंगीले घन।"

एक जगह प्रकृति प्रियतम के रंगों में रंगी नजर आती है। सन्ध्या को सम्बोधन कर कही गई पंक्तियाँ देखिए—

'रागभीनी तू सजनि, निःश्वास भी तेरे रंगीले।
लोचनों में क्या मदिर नव?
देख जिसको नीड़ की सुधि फूट निकली
बन मधुर रव!!'

'नीड़ की सुधि' पद द्वारा विहंगों के हृदय में भी उस अनन्त सत्ता के प्रति प्रेम की व्यंजना है। मानों वही दिव्य प्रेम पशु-पक्षियों के हृदय में भी खिल रहा है, उन्हें कर्मोन्मुख बना रहा है!!

लाक्षणिकता महादेवी की भाषा की विशेषता है। अभिव्यंजना की इस प्रणाली से जो अपरिचित हैं वे महादेवी की कविताओं में अस्पष्टता देखते हैं, और समझ में न आने पर अर्थहीनता का दोषारोपण करते हैं। पर सुभद्राकुमारी के शब्दों में 'वे गीत इतने स्पष्ट हैं, जितने कि उनमें गुंथे हुए तारे, संध्या, रजनी, इन्द्रधनुष, कलिका, पुष्प, प्रभात और चन्द्रमा।' केवल सहानुभूतिपूर्वक लाक्षणिक और व्यंजक पदों का ध्यान रखते हुए समझने की आवश्यकता है।

यह लाक्षणिकता भी जान-बूझकर लाई हुई नहीं है। उक्ति में रहस्य-मयता—एक वर्णनातीत भावना को शब्दों में बाँधने के प्रयास के फलस्वरूप आ ही जाती है। यह निर्गुण के प्रति प्रेम-सम्बन्ध की स्थापना के विरोधाभास का हा प्रतिफलन है। दाम्पत्य प्रेम के रूपक की आवश्यकता भी इसी हेतु पड़ी। प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी कहते हैं—

"भाषा चाहे कितनी विकसित क्यों न हो, भावों की यथेष्ट व्यंजना सम्भव नहीं, इसीलिए रहस्यवाद की कविताओं में प्रतीकों का प्रयोग अनिवार्य रूप में पाया जाता है। रहस्यवादियों का इन प्रतीकों के विना काम नहीं चल सकता।" इसीलिए तो प्राचीन सन्तों ने 'गूंगे के गुड़' से इसकी तुलना की है, और इसी हेतु तो वाष्कलि ने भाव द्वारा प्रश्न किए जाने पर मौन द्वारा ही उत्तर दिया था। रहस्यवादी दाम्पत्य प्रेम को भी इसीलिए अपनाता है क्योंकि उसी की व्यापक एवं तीव्रतम भावना द्वारा आध्यात्मिक प्रेम की अभिव्यंजना संभव है। रहस्यवादी "मानवी प्रेम में दैवी प्रेम का अध्याहार देखता है।" महादेवी की वाणी में इस बात का प्रमाण है कि वह आध्यात्मिकता की सुधा से पूर्णतः ओत-प्रोत है। उनके गीत मन्दिर के 'पूत धूप-धूम' की भाँति हृदय को सुरभित किए बिना नहीं रहते। हमारे वयोवृद्ध आचार्यों ने भी इनका लोहा अब माना है—

"जिस कसक और अन्तर्वेदना से प्रेरित होकर उनका संगीत फूट पड़ता है, वह सांसारिक प्रभाव से जनित नहीं, किसी जगद्वाह्य वासना से उद्भूत है। उनकी कविता निस्सन्देह हृदय पर चोट करनेवाली होती है।"[1]

पन्त के 'युगान्त' के बाद हिन्दी कविता एक नई दिशा की ओर अग्रसर हुई है। जिस प्रकार द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया ने छाया-वाद की कल्पनाशीलता को रूप दिया, उसी प्रकार छायावाद युग की प्रति-क्रिया भी प्रगतिवाद के रूप में देखने में आ रही है। चाहे जो हो, पर महादेवी के ये साहित्यिक गीत सभी युगों में हिन्दी की अमर सम्पत्ति रहेंगे, क्योंकि उनकी रचना हृदय की मौलिक भूख को लेकर हुई है, जीवन का तत्त्व इनमें निहित है। महादेवी अपने पथ की अकेली पथिक हैं, पर यही उनकी महानता भी है।

---

१ हिन्दी भाषा और साहित्य—श्याम सुन्दरदास पृ० ३७१

दीपशिखा की रहस्य-भावना

दीपशिखा का विषय आध्यात्मिक प्रेम या रहस्यवाद से संबन्ध रखता है या लौकिक प्रेम से, इस संबन्ध में स्वयं किसी निश्चय पर मैं पहुँच सकूं, ऐसी मेरी स्थिति नहीं। कारण, न तो कभी अलौकिक प्रेम या रहस्यानुभूति के आस्वादन किए होने का दावा मैं ईमानदारी से कर सकता हूँ, और (विश्वास कीजिए) न कभी सौभाग्य या दुर्भाग्यवश लौकिक प्रेम की शिखा में अपने पंख झुलसाने का ऐसा स्वाद ही मुझे मिला है कि मैं अपने को दीपशिखा की कवयित्री का समानधर्मा मान सकूँ। ऐसी स्थिति में महादेवी के गीतों में व्यक्त प्रेम की प्रेरणा का स्रोत क्या है, इस सम्बन्ध में अनायास निर्णय देने का अधिकारी मैं अपने को नहीं मानता। अतएव, इस समस्या पर कौन क्या कहता है, यह कह कर ही तब आगे बढ़ना चाहूँगा।

डा० नगेन्द्र ने दीपशिखा पर लिखते हुए कहा है—

"दीपशिखा के गीतों का अध्ययन करने पर हमारे मन में तीन प्राथमिक धारणाएँ बनती हैं—

१. दीपशिखा कवि के अपने मन का प्रतीक है।

२. दीपशिखा में फारसी की शमअ की तरह ऐंद्रिय वासना की दाहक ज्वाला नहीं है, वरन् करुणा की स्निग्ध लौ है जो मधुर-मधुर जलती हुई पृथ्वी के कण-कण के लिए आलोक वितरित करती है।

३. और इस जलने के पीछे किसी अज्ञात प्रिय का संकेत है जो उसे असीम बल और अकम्प विश्वास प्रदान करता है।

× × इस विषय में मैं पहले निवेदन कर दूँ कि मुझे आधुनिक काव्य की आध्यात्मिकता में एकदम विश्वास नहीं है। × × मैं मानता हूँ कि ......कबीर की रहस्यानुभूति कल्पना की क्रीड़ा अथवा धार्मिक दम्भ कभी

नहीं थी। परन्तु बुद्धि के इस युग में, जैसाकि महादेवीजी ने स्वयं अपनी भमिका में स्वीकार किया है, इस प्रकार की रहस्यानुभूति कम से कम एक नवीन शिक्षा-दीक्षा में पोषित बुद्धिजीवी के लिए संम्भव नहीं। एक बार व्यक्तिगत चर्चा करते समय भी जब मैंने अपना यह मन्तव्य उनके सम्मुख रखा तो उन्होंने स्पष्ट रूप में इसकी सत्यता स्वीकार की थी। अतएव दीप-शिखा के गीतों की अनुभूति पार्थिव माने बिना काम नहीं चल सकता। उसका विश्लेषण करने पर तीन तत्त्व हमें मिलते हैं।

(१) जलने की भावना, (२) विश्व के प्रति गीला करुणा-भाव, और (३) अज्ञात प्रिय का संकेत।

इनमें तीसरे भाव के मूल में तो स्पष्टत: काम का स्पन्दन है ही; जलने की भावना में असन्तोष और अतृप्ति भावना भी अनिवार्य है।......किसी अभाव ने ही उनके जीवन को एकाकिनी बरसात बना दिया है, सुख और दुलार के आधिक्य ने नहीं[1]।"

जैनेन्द्र दो कदम और आगे बढ़ कर महादेवी की अनुभूति को लौकिक ही नहीं, बौद्धिक या कल्पित भी मानते हैं। महादेवी और मीरा की पीड़ा में अन्तर पूछे जाने पर वे कहते हैं—

"महादेवी जी की पीड़ा चाह कर अपनाई हुई है, मीरा की अनिवार्य। मीरा अपने में बेबस और अपनी पीड़ा से छुटकारा पाने के लिए विकल हैं। वे प्यासी हैं, इसलिए उनमें पानी की पुकार है। महादेवी प्यास को ही चाहती मालूम होती हैं, इससे अनुमान होता है कि प्यास को उन्होंने जाना नहीं है। घायल घाव नहीं चाहता। जो अभी घाव ही चाहता है, मालूम होता है, उसकी गति घायल की नहीं। महादेवीजी विरह और वियोग में रस अधिक ढूंढ़ती हैं। इसका अर्थ है, विकलता उतनी अनुभव नहीं करतीं। मीरा तो अपने गिरिधर गोपाल के पीछे सारी लाज लुटा बैठी हैं। महादेवी के लिए सामाजिक सम्भ्रान्तता उतनी नगण्य वस्तु नहीं। कोई गिरिधारी उनके लिए इतना मूर्त्त और वास्तव नहीं बन सकता, जो उन्हें उधर से असा-वधान कर दे। यानी अपने इष्ट को वे विचार रूप में ही ग्रहण कर सकती हैं, प्रत्यक्ष रूप में नही चाह सकतीं।"

---

[1] महादेवी वर्मा—काव्यकला और जीवन दर्शन पृ० २३५-६

प्रणयवेदना में महादेवी घुलती नहीं वरन् उन्हें सुखानुभूति क्यों होती है, इसके उत्तर में जैनेन्द्र का कथन देखिए—

'वेदना में घुलना या न घुलना मेरे विचार में यह आदमी के अपने निर्णय की बात नहीं है। यदि कोई नहीं घुलता तो कहना यह होगा कि वेदना की मात्रा पर्याप्त से कम है। महादेवी जी वेदना में घुल गई हैं ऐसा मैं भी नहीं मान पाता। इसीसे मुझे मानना होता है कि वेदना वह समग्र नहीं, किंचित् बौद्धिक है। (आपके पहले प्रश्न के उत्तर में जो मैंने कहा था, कि मेरी दृष्टि में उनके काव्य का धरातल बौद्धिक है या बौद्धिक सहानुभूति है तो इसका यही मतलब था)। बुद्धि जानती है, इस कारण घुलने नहीं देती, यानी वह भक्ति से भिन्न है। भक्ति में विह्वलता है, महादेवी के काव्य में इतनी अधिक कविता है कि उसी के कारण हम जान लेते हैं कि विह्वलता नहीं है। विह्वलता में भाषा के किनारे टूटे-फूटे बिना नहीं रह सकते, जबकि महादेवी जी की कविता सुसज्जित भाषा का अनुपम उदाहरण है। इसमें मैं वेदना की कुछ कमी ही का कारण देखता हूँ। वेदना वह जो बुद्धि को भिगो दे। बुद्धि अलग से जिसे थामे रह सकती है, वह पीड़ा शायद बुद्धिगत है, प्राणगत नहीं है, जबकि वेदना का मूल प्राण में है।''[1]

जैनेन्द्र का कहना है कि यदि महादेवी गृहिणी या माता होतीं तो उनकी कविता "न इतनी सूक्ष्म होती, न जटिल, न गूढ़। तब वह अधिक प्रकृत होती।" अर्थात् उनकी कविता प्रकृत नहीं है, वैयक्तिक जीवन के अभावों-कुण्ठाओं के कारण ही जटिल है, सूक्ष्म है।

इस अलौकिक रहस्यभावना और बौद्धिकता के सम्बन्ध में स्वयं महादेवी के भी विचार देख लीजिए।

मानो पं० रामचन्द्र शुक्ल के इस तर्क के उत्तर में कि अज्ञात के प्रति केवल जिज्ञासा हो सकती है, प्रेम नहीं और इसलिए प्रेममूलक रहस्यभावना साम्प्रदायिक है, स्वाभाविक नहीं, महादेवी वर्मा दीपशिखा की भूमिका में कहती हैं—

"हमारे मूर्त्त और अमूर्त्त जगत एक दूसरे से इस प्रकार मिले हुए हैं कि एक का यथार्थदर्शी दूसरे का रहस्य-द्रष्टा बनकर ही पूर्णता पाता है।

---

१ सुश्री महादेवी वर्मा (प्रश्नोत्तर)—जैनेंद्र :
महादेवी वर्मा—काव्यकला और जीवनदर्शन पृ० ४–५

इस अखण्ड और व्यापक चेतन के प्रति कवि का आत्मसमर्पण सम्भव है या नहीं इसका जो उत्तर अनेक युगों से रहस्यात्मक कृतियाँ देती आ रही हैं वही पर्याप्त होना चाहिए। अलौकिक आत्मसमर्पण को समझने के लिए भी लौकिक का सहारा लेना होगा। स्वभाव से मनुष्य अपूर्ण भी है और अपूर्णता के प्रति सजग भी। अत: किसी उच्चतम आदर्श, भव्यतम सौन्दर्य या पूर्ण व्यक्तित्व के प्रति आत्मसमर्पण द्वारा पूर्णता की इच्छा स्वाभाविक हो जाती है। आदर्श-सर्मपित व्यक्तियों में संसार के असाधारण कर्मनिष्ठ मिलेंगे, सौंदर्य से तादात्म्य के इच्छुकों में श्रेष्ठ कलाकारों की स्थिति है और व्यक्ति-समर्पण ने हमें साधक और भक्त दिए हैं।

अखण्ड चेतन से तादात्म्य का रूप केवल बौद्धिक भी हो सकता है, पर रहस्यानुभूति में बुद्धि का क्षेत्र ही हृदय का प्रेम हो जाता है।

प्रकृति के अस्तव्यस्त सौंदर्य में रूपप्रतिष्ठा, बिखरे रूपों में गुण-प्रतिष्ठा, फिर इनकी समष्टि में एक व्यापक चेतन की प्रतिष्ठा और अन्त में रहस्यानुभूति का जैसा क्रमबद्ध इतिहास हमारा प्राचीनतम काव्य देता है, वैसा अन्यत्र मिलना कठिन होगा[१]।"

और तदुपरान्त महादेवी ने ऋग्वेद से उषा, मरुत्, आदि सम्बन्धी उक्तियों का उद्धरण देते हुए अन्त में रहस्यानुभूति और आत्मनिवेदन के भावों से युक्त पंक्तियाँ उद्धृत की हैं और प्रमाणित किया है कि माधुर्यभावभरित रहस्यवाद के अंकुर वेदों में वर्त्तमान हैं।

"हे वरणीय स्वामी! हम दोनों का वह पूर्व का अविच्छिन्न सख्य भाव कहाँ गया जिसे मैं व्यर्थ खोजता हूँ।"

इस पंक्ति में अव्यक्त चेतन के प्रति वैयक्तिक तादात्म्य की इच्छा ध्वनित है।

अब हम थोड़ा महादेवी के जीवन पर विचार कर लें। क्योंकि कविता के भाव और जीवन में साम्य होना ही चाहिए।

जन्म सम्पन्न परिवार में। पिता बा० गोविन्द प्रसाद वर्मा एडवोकेट और माता श्रीमती हेमरानी देवी अत्यन्त विदुषी और कलाप्रिय। बचपन में चित्र

---

१ दीपशिखा—भूमिका–पृ० १०-१२

और संगीत की शिक्षा। ११ वर्ष के अल्प वय में विवाह। और तब बौद्ध-दर्शन के अध्ययन का और बुद्ध के व्यक्तित्व का प्रभाव। महादेवी निश्चय करती हैं कि वे वैवाहिक जीवन नहीं बिताएँगी, बौद्ध भिक्षुणी बनेंगी। घर-वालों का विरोध। अतः अध्ययन चलता रहा—संस्कृत में एम० ए० किया। तब से अलग रहकर अपने भिक्षुणी होने के स्वप्न को वैयक्तिक जीवन में पवित्रता, संयम और सादगी तथा समाज-सेवा द्वारा पूरा करने में प्रयत्नशील रहीं।

प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रधान आचार्या हैं वे, पर छुट्टियों में समय मिलते ही गाँवों में जाकर रोगियों-दुखियों की सेवा कर बौद्ध धर्म की करुणा के आदर्श को व्यवहारिक साधना के रूप में परिणत करने में लीन हो जाती हैं। उनका जीवन पवित्रता, सेवा और साधना का प्रतीक है।

महादेवी के जीवन को देखने से इसमें सन्देह नहीं रह जाना चाहिए कि उनकी भावना में एक ऐसी पवित्रता है जिसके कारण उसमें ऐंद्रिक काम-वासना के लिए स्थान नहीं। इसे डा० नगेन्द्र ने भी स्वीकार किया है कि दीपशिखा, में जो महादेवी के मन का प्रतीक है, फारसी शमअ की दाहक ज्वाला नहीं, वरन् करुणा की शीतलता है। स्वयं जलकर भी विश्व को आलोकदान करते रहने की पुनीत कामना में समष्टि के लिए अपने को दे डालने की आकाङ्क्षा निहित है—

> "दीप मेरे जल अकम्पित,
> घुल अचंचल।
> पथ न भूले एक पग भी,
> घर न खोए लघु विहग भी,
> स्निग्ध लौ की तूलिका से
> आँक सबकी छाँह उज्ज्वल!"

इस लौ के पीछे महादेवी के प्राणों का स्नेह जल रहा है जिससे किसी एक विशिष्ट का नहीं, सब का—छोटे से छोटे और नगण्य से नगण्य का पथ आलोकित करना और उन्हें शीतलता देना अभीष्ट है। कवयित्री के व्यावहारिक जीवन में इस भावना की परिणति का प्रयास हम देखते हैं। अतएव यह कह कर हम छुट्टी नहीं ले सकते कि इसमें व्यक्त भावना का रूप प्रकृत नहीं, बौद्धिक है। क्योंकि भावना जब तक प्राणगत न हो, तब तक वह जीवन-साधना का रूप कैसे ले लेगी? आत्मविसर्जन की भावना के कारण इन पंक्तियों में स्वार्थ-मूलक ऐंद्रिक काम-वासना का निषेध अपने आप हो जाता

है। यह आत्मविसर्जन अतृप्ति और निराशा से उद्भूत क्षोभ का परिणाम नहीं है, क्योंकि इसमें निर्माण की साधना है, मात्र आत्मध्वंस की प्रवृत्ति नहीं। निर्माण की चेतना महादेवी की गति में संकल्प, और प्राणों में दुर्जेय साहस का संचार कर रही है—

"अन्य होंगे चरण हारे,
और हैं जो लौटते, दे शूल को संकल्प सारे,
दुखव्रती निर्माण-उन्मद,
यह अमरता नापते पद,
बांध देंगे अंक-संसृति-से
तिमिर में स्वर्ण-वेला!"

जो लोग संसार भर के संपूर्ण श्रेष्ठ कला-साहित्य में अभुक्त काम की प्रेरणा देखते हैं, वे स्वीकार करते हैं कि यह काम अभुक्त रहकर ही परिष्कृत (Sublimated) हो कलासृजन कि प्रेरणा बन सकता है। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि कलासृजन का रास्ता भोग के रास्ते से अलग ही नहीं, विपरीत है। इच्छाओं का भोग उनकी मृत्यु है, अभुक्त रहकर उनकी परिणति दो प्रकार से संभव है—

१ क्षोभ, निराशा, अतृप्ति आदि के कारण उत्पन्न कुण्ठाओं या अस्वस्थ मानसिक अवस्थाओं के रूप में। अभुक्त काम आश्रय के किसी विशेष प्रयास या साधना के अभाव में इसी परिणति को सामान्यत: प्राप्त कर सकता है क्योंकि व्यक्ति का अधोगामी मन सामान्य रूप से काम की तृप्ति की ओर से नि:संग नहीं रह सकता।

२ पर विशेष साधना द्वारा विशेष व्यक्ति ही अभुक्त काम का उन्नयन, परिष्कार (Sublimation) कर सकते हैं। मन तब ऊर्ध्वगामी बनाया जाता है, काम के प्रति एक प्रकार की नि:संग भावना या अनासक्ति उत्पन्न हो जाती है। लेकिन काम मरता नहीं, आत्मा में निहित सतोगुण के वशीभूत हो शेष सृष्टि के साथ रागात्मक तादात्म्य के रूप में या आध्यात्मिक प्रेम के रूप में, जो निर्वैयक्तिक होता है, या सब के प्रति होता है और शरीर से जिसका संबन्ध नहीं रहता,—उन्नीत हो जाता है।

काम शब्द अपने व्यापक अर्थ में अपवित्र शारीरिक वासना का बोधक नहीं। यह व्यक्ति की मूल रागात्मिका वृत्ति का ही पर्याय है, काम का भोग ही निम्न वस्तु है, सामान्य है, प्रकृत है। अभुक्त रह कर ही वह व्यक्ति को

ऊँचे ले जा सकता है। हाँ, अभुक्त काम आसक्तिमूलक होगा अर्थात् अनुन्नीत होगा तो कुण्ठाओं को जन्म देगा। तब व्यक्ति का मानसिक जीवन असामान्य ही नहीं, अस्वस्थऔर समाज के लिए अहितकर भी हो सकता है। पर सतोगुण द्वारा नियन्त्रित-परिचालित हो यही अभुक्त काम (या रागवृत्ति) व्यक्ति को सत्य और सौंदर्य के आनन्द की रसानुभूति में सहज समर्थ बना दे सकता है। इस अर्थ में संसार के श्रेष्ठतम कवियों-कलाकारों, भक्तों-महात्माओं के जीवन में उन्नीत अभुक्त काम की प्रेरणा काम करती है।

डा० नगेन्द्र ने दीपशिखा की कवयित्री में अभुक्त काम की प्रेरणा का जो रूप देखा है वह बहुत कुछ पहले प्रकार का है। वे 'जलने की भावना में असन्तोष और अतृप्ति' देखते हैं। उनकी वेदना को अभाव-जनित मानते हैं और उनके 'जीवन में सन्तों की आत्मसाधना देखना' तो उपहास्य समझते हैं। पर इसे भी अस्वीकार नहीं करते कि 'अपनी वासना का परिष्कार करने के लिए उन्होंने साधना की है और अब भी कर रही हैं।' अन्तिम बात को मानने के कारण महादेवी में और सन्तों या भक्तकवियों की भावना में अगर कोई अन्तर रह जाता है तो वह केवल मात्रा का। दार्शनिक अध्ययन और चिन्तन तथा बोधवृत्ति की अपेक्षाकृत अधिक सजगता के कारण महादेवी की भावना में वह तीव्रता या उनके जीवन में सामाजिक मर्यादा की वह अवहेलना हम भले ही न पाएँ जो मीरा में है, पर भावना का प्रकार वही ह, वह भावना सांसारिक लालसाओं की अतृप्ति द्वारा उद्भूत कुण्ठा का प्रतिरूप नहीं। हमें तो महादेवी के जीवन में सन्तों की आत्म-साधना देखना उपहास्य नहीं प्रतीत होता। वुद्धिवाद का युग है, इसका अर्थ यह नहीं कि आत्मसाधना सम्भव ही नहीं। बुद्धिजीवी भी साधक या भक्त हो सकता है। बोधवृत्ति और रागवृति एक दूसरे के विरोधी नहीं, पूरक हैं। एक ही आश्रय में दोनों की स्थिति सम्भव है।

महादेवी का जो जीवन परिचय ऊपर दिया गया है उससे स्पष्ट है कि उन्होंने काम-भोगका रास्ता स्वेच्छा-पूर्वक त्यागा है, पतिस्थितियों की विवशता से नहीं। उनका काम अगर अभुक्त रहा है तो इसके मूल में उनके दार्शनिक बोध (जिसमें बौद्धदर्शन आदि के अध्ययन का हाथ है) द्वारा नियन्त्रित- उत्प्रेरित सांसारिक सुखों के प्रति उनकी अनासक्ति और उदासीनता की भावना ही है। अतएव डा० नगेन्द्र का यह विचार कि महादेवी के काव्य के मूल में

अतृप्ति और अभाव की प्रेरणा है, मुझे संगत नहीं प्रतीत होता। हाँ, इस अतृप्ति या अभाव को शारीरिक या लौकिक नहीं मानकर आध्यात्मिक मानें तो मुझे आपत्ति नहीं। इस अर्थ में यह अभाव अपूर्ण मानव के, पूर्णता के लिए प्रयास और किसी पूर्ण व्यक्तित्व की आकाङ्क्षा का प्रतीक होगा।

जैनेन्द्र को महादेवी की भावना की सच्चाई में इसलिए सन्देह है कि वे पीड़ा चाहती हैं, वेदना से प्यार करती हैं, विरह को ही मिलन समझती हैं। संसार में, यह ठीक है कि, पीड़ा, वेदना, विरह किसी को प्रकाम्य नहीं। सभी चाहते हैं पीड़ा का अन्त, वेदना का शयन, विरह की मिलन में परिणति। पर जिसने अपनी आत्मा की धवलपुनीत साधना द्वारा, अपने सतोगुण के विकास द्वारा अपनी भावना को लोक की पार्थिव सीमाओं से मुक्त कर लिया है, जिसने अपने प्रेम को नामरूपनिरपेक्ष सार्वभौम व्यक्तित्व के चरणों में निवेदन करने का अभ्यास किया है, उसके लिए न पीड़ा-पीड़ा है, न विरह विरह। पीड़ा प्रियतम की अनुभूति की सजगता का नाम है और विरह अपने अहं—प्रेम-विह्वल अहं—के बोध का। अतः दोनों चरम प्रकाम्य हैं। सुख-दुख में समता का भाव, प्रियतम के हास और रोष को समानरूप से अंगीकृत करने की क्षमता उसी हृदय में सम्भव है जो निष्कंप दीपशिखा के समान साधना में सतत लीन है—

"हास का मधुदूत भेजो,
रोष की भ्रूभंगिमा पतझार को चाहे सहेजो!
ले मिलेगा उर अचंचल,
वेदना जल, स्वप्न शतदल,
जान लो, यह मिलन-एकाकी,
विरह में है दुकेला"

यही संसार से उदासीन, पर आत्मोन्मुख अन्तर्मुखी साधना महादेवी को श्रेष्ठतम रहस्यदर्शी साधकों की कोटि में बिठाने के लिए यथेष्ट है।

ऊपर की पंक्तियों में 'उर अंचंचल', और 'स्वप्न शतदल' पदों द्वारा महादेवी की भावना की ग्रंथिहीन पवित्रता और निश्चलता ध्वनित हैं और 'वेदना जल' द्वारा उसकी करुण तरलता।

और जो महादेवी की भावना में एक बौद्धिक सहानुभति मात्र देखते हैं, उसमें अनुभूति की गहराई और हृदय का तीव्र वेग नहीं देख पाते, उन्हें निम्नोद्धृत पंक्तियाँ ध्यान से पढ़ना चाहिए—

"क्षितिज कारा तोड़कर अब
गा उठी उन्मत्त आंधी,
अब घटाओं में न सकती
लास-तन्मय तड़ित बांधी;
धूलि की इस वीण पर मैं तार हर तृण का मिला लूँ।"

चतुर्दिक तूफान की उच्छृंखल पीठिका में कवयित्री अपना समस्त आत्म-बल संचित कर बुझे साधना-दीप को जला लेने की कामना करती हैं। और जब तक उनकी आत्मा में साधना की पुनीत दीपशिखा प्रज्ज्वलित है, उन्हें तूफान या प्रलय का भय नहीं—

"अब तरी पतवार लाकर
तुम दिखा मत पार देना,
आज गर्जन में मुझे बस
एक बार पुकार लेना!
ज्वार को तरणी बना मैं इस प्रलय का पार पा लूँ!"

अपनी सात्विक साधना में उन्हें आत्मविश्वास है, तभी तो वह मंझधार को चुनौती देने का साहस करती हैं। एकबार पुकारे जाने की कामना से यह गलतफहमी न हो कि कवयित्री की अतृप्ति इसमें ध्वनित है। बच्चन की भावना—

'इसीलिए खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो' से यह भावना नितान्त भिन्न है। महादेवी की भावना का आलंबन स्थूल नहीं, व्यक्ति नहीं, वरन् कोई अज्ञात निर्वैयक्तिक व्यक्तित्व है। प्रमाण स्वरूप नीचे की पंक्तियाँ भी देखिए—

"यह सपने सुकुमार तुम्हारी स्मित से उजले!

× × ×

जाते अक्षरहीन व्यथा की लेकर पाती,
लौटाना है इन्हें स्वर्ग से भू की थाती

× × ×

छायापथ में अंक बिखर जावें इनके जब,
फूलों में खिल रूप निखर आवें इनके जब
वर दो तब यह बांध सकें सीमा से तुमको
मिलन विरह के निमिष-गुँथी साँसों के स्रज लें।"

जब तक ये सपने साधिका के उर-मन्दिर में दीवाली मना रहे हैं तब तक प्रिय आएँ या न आएँ। साधनादीप की लौ जब थकने लगे तभी हृदय प्रिय के वरदान की कामना करता है, जब तक लौ में जीवन है, वह प्रिय को आत्मदान ही देगा। प्रिय से प्रार्थना है—कवयित्री की करुण साधना की लौ धुले तो प्रिय के प्रतिरूप विश्व के हृदय में वह आलोक बनकर समा जाए—

"जब यह दीप थके तब आना!
साधें करुणा अंक ढली हैं,
सांध्य गगन सी रङ्गमयी पर
पावस की सजला बदली हैं।
विद्युत् के दे चरण इन्हें उर उर की राह बताना!"

भावों की सच्चाई का प्रमाण है, सहृदयों का हृदय!

महादेवी के भाव हृदय को छूते हैं, इससे कैसे इन्कार किया जाए। उद्धृत पंक्तियों में क्या केवल विचार हैं, मात्र दार्शनिक सिद्धान्त हैं? क्या महादेवी के प्रेम-तरल व्यक्तित्व की मधुर-साधना और उनकी करुणा की आर्द्रता से आपका हृदय अभिषिक्त नहीं हो जाता? क्या ये पंक्तियां सीधे मस्तिष्क से टकरा कर लौट जाती हैं? यदि नहीं तो जैनेन्द्र ने जो कहा है, उनके प्रति आदर का भाव रखते हुए भी, हम उसे कैसे मान लें?

दीपशिखा एक प्रतीक है—महदेवी की अन्तःसाधना का। सन्ध्या साधना का आरम्भ काल और प्रभात समाप्ति-वेला है। सान्ध्यगीत में कवयित्री का अज्ञात प्रियतम अज्ञात रहकर भी ज्ञात हो गया—उसकी रूपरेखा अव्यक्त और सूक्ष्म ही रही, पर उसके व्यक्तित्व की अनुभूति सन्देह के परे हो गई। दीपशिखा में, माया के घोर तिमिर को, संसार के (कर्म-कोलाहल के) निबिड़ अन्धकार को तथा स्थूल भौतिक परिस्थितियों के आवरण को झेलती हुई साधना की शिखा जलती दिखाई देती है। इस शिखा में प्रिय की स्मृतियों का प्रकाश है—यही प्रकाश साधिका का संबल है। जब तक यह साथ है उसे तूफान या प्रलय (भौतिक आकर्षण या सांसारिक कामनाएँ) विचलित नहीं कर सकते। जब प्रभात होगा—व्यष्टि का समष्टि में विसर्जन होगा—या प्रिय से प्रेयसि का मिलन होगा—तब दीपक की लौ भी प्रभात के चरणों में अपने को विसर्जित कर देगी—

"यह मन्दिर का दीप इसे नीरव जलने दो!
झन्झा है दिग्भ्रांत रात की मूर्च्छा गहरी,

आज पुजारी बने, ज्योति का यह लघु प्रहरी,
जब तक लौटे दिन की हलचल,
तब तक यह जागेगा प्रतिपल,
रेखाओं में भर आभा जल,
दूत साँझ का इसे प्रभाती तक जलने दो !"

और जब सबेरा सचमुच आता है, तो देखिए क्या होता है —

"कल्पना निज देख कर साकार होते,
और उसमें प्राण का सञ्चार होते,
सो गया रख तूलिका दीपक-चितेरा,
सजल है कितना सबेरा ।"

संसार-शलभ के प्रति साधिका की उक्ति में कितनी अनासक्त उदासीनता है—

"शेषयामा यामिनी मेरा निकट निर्वाण !
पागल रे शलभ अनजान !
राख हो उड़ जाएगी यह अग्निमय पहचान ।
कर मुझे इंगित बता, किसने तुझे यह पथ दिखाया,
तिमिर में अज्ञात देशी क्यों मुझे तू खोज पाया,
अग्निपंथी मैं तुझे दूँ,
कौन सा प्रतिदान ?"

शलभ की इस भर्त्सना में सांसारिक प्रेम का तिरस्कार ध्वनित है।

कवयित्री का प्रेम चातक का प्रेम है—उसमें वही एकनिष्ठता है, वह व्रत है, वह साधना है जो तुलसी के प्रेम में—

"एक भरोसो, एक बल, एक आस - विस्वास,
सियाराम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास ।"

महादेवी कहती हैं—

"जो न प्रिय पहचान पाती !
मेघ पथ में चिह्न विद्युत् के गए जो छोड़ प्रिय-पद,
जो न उनकी चाप का मैं जानती सन्देश उन्मद,
किसलिए पावस नयन में
प्राण में चातक बसाती ?"

कवयित्री के प्राणों में चातक आ बसा है, नयनों में बरसात समा गई है ! इसीलिए तो कि उसने प्रिय को जाना-पहचाना है । प्रिय है कैसा ?

जिसके चरण मेघपथ में विद्युत् के चिह्न छोड़ गए हैं, वही है प्रिय—अरूप, अव्यक्त, अनन्त चेतन सत्ता! अव्यक्त है वह, पर उसके सन्देश की अभिव्यक्ति व्यक्त रूप में होती है—मेघपथ से वह चलता है; विद्युत् उसका पदचाप है! भाव की तन्मयता को लेकर नहीं, केवल उपास्य के स्वरूप को लेकर तुलसी से महादेवी भिन्न हैं। तुलसी का ईश-प्रेम भी मूल रूप में लौकिक ही था—अपनी पत्नी रत्नावली से आघात पाने पर यही प्रेम ईश्वरोन्मुख हुआ। वृत्ति एक ही है—प्रेम! आलंबन की भिन्नता से उसके स्वरूप-संस्कार में में भी अन्तर आ जाता है। तुलसी का पार्थिव प्रेम ईश्वरोन्मुख होकर अपार्थिव कहलाया, तो महादेवी का प्रेम ईश्वर के निर्गुणरूप या असीम-अव्यक्त के प्रति उत्प्रेरित होकर लौकिक कैसे कहा जा सकता?

जैनेन्द्र ने एक और तर्क दिया है--महादेवी में पर्याप्त कविता है--भाषा की सजधज है, इसलिए वेदना की विह्वलता सच्ची नहीं। वहाँ बोधवृत्ति सजग है, वेदना को अलग से थामे। जहाँ विह्वलता अधिक होती है, वहाँ भाषा के किनारे टूटे फूटे होते हैं। लौकिक प्रणय के संबन्ध में जैनेन्द्र का यह कथन ठीक है। पर यद्यपि महादेवी ने लौकिक प्रेम से ही 'तीव्रता उधार ली है, फिर भी आलंबन अलौकिक होने के कारण तीव्रता का वह वेग नहीं रह जाना स्वाभाविक ही है। मीरा के आलंबन ईश्वर होकर भी मानवदेहधारी थे, कबीर के निर्गुण। अत: कबीर में मीरा की तीव्रता हम नहीं पाते! महादेवी में आलंबन पर्याप्त सूक्ष्म है, अतएव भावावेश इतना तीव्र और अमर्यादित नहीं कि बोधवृत्ति को एकदम ढ़ँक ले, भाषा के किनारों को तोड़ फोड़ दे। अनुभूति में गहराई खूब है, पर सतह की हलचल उतनी नहीं। अतएव जैनेन्द्र के इस विचार से हम सहमत नहीं कि महादेवी की पीड़ा प्राणगत नहीं, बुद्धिगत है, वह जानबूझ कर अपनाई गई है।

महादेवी में बुद्धि और राग--दोनों का सामञ्जस्य है। इसी हेतु 'कविता' का स्वरूप--अर्थात् कलापक्ष भी खूब निखरा है। यह स्वतंत्र विषय है और यहाँ इसके विवेचन के लिए अवकाश नहीं। किसी अन्य अवसर पर इस पर प्रकाश डालना चाहूँगा। यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि महादेवी की भाषा-शैली, उनके प्रतीक और उनके काव्य में प्रस्तुत या अप्रस्तुत रूप में प्रकृति के चित्र, ये सभी उनके विषय के अनुरूप ही हैं। समस्त प्रकृति में व्याप्त किसी अव्यक्त चेतन की अनुभूति, उस अव्यक्त के प्रति प्रणय-निवेदन, उसके वियोग में पीड़ा, और इस पीड़ा में अनिर्वचनीय सुख की अनभूति--

यही तो महादेवी का विषय है। उनका यह विषय उनकी अन्तर्मुखी साधना से सम्बन्ध रखता है। पर इस अन्तर्मुखी साधना की अभिव्यक्ति के लिए जिन उपकरणों का सहारा लिया गया है—खासकर दीपशिखा में—अर्थात् दीपक की प्रतिपल घुलघुल कर सर्व-जनहित प्रकाश फैलानेवाली और रजनी के अन्धकार को झेलनेवाली लौ, मन्दिर की शंख और घटाध्वनि, प्रकृति का विराट् विस्तार, रंगों की तरलता, गीले ओसकण और आँसुओं का अर्घ्य, शतदल, हिमधवल शृंग, प्रभात तक आँधी और प्रलय का सामना करती हुई जलनेवाली निष्कंप दीपशिखा, आदि—उन से यह स्पष्ट है कि महादेवी की यह साधना लोकहित की साधना से अलग नहीं। उनके व्यावहारिक जीवन में हम 'जन-कल्याण की अटूट भंगिमा भरी हुई' पाते हैं जिससे प्रेरित हो कर महादेवी जी ने इलाहाबाद के 'साहित्यकार संसद' की स्थापना का उद्योग किया।

साधिका महादेवी के लोकपावन व्यक्तित्व की झांकी उनकी इन पंक्तियों में देखिए—

"कोई यह आँसू आज माँग ले जाता!
तापों से खारे जो विषाद से श्यामल,
अपनी चितवन से छान इन्हें कर मधु-जल,
फिर इनसे रच कर एक घटा करुणा की
कोई यह जलता व्योम आज छा जाता!"

खारे आँसुओं को करुणा के शीतल बादल में परिणत कर व्योम की जलन मिटाने का कुछ ऐसा ही व्यावहारिक प्रयास महादेवी के यथार्थ जीवन में भी हम देखते हैं।

अतएव, न तो महादेवी की भावना में बौद्धिक सहानुभूति देखना संगत है और न उनके प्रेम में अभुक्त काम की प्रेरणा का प्रच्छन्न रूप देखना आवश्यक। महादेवी की रहस्य-भावना स्वाभाविक, स्वस्थ और यथार्थ है और वह उनकी जीवन-साधना का प्रतिफल है।

महाप्राण कवि निराला ने एक स्थल पर महादेवी के व्यक्तित्व पर अर्घ्य चढ़ाते हुए लिखा है—

हिन्दी के विशाल मन्दिर की वीणापाणी,
स्फूर्ति चेतना रचना की प्रतिभा कल्याणी।

प्रसाद की सांस्कृतिक चेतना

संस्कृति (सम्+कृ+क्तिन्) परम्परागत प्रतिष्ठित उन्नीत संस्कारों की सामूहिक अभिव्यक्ति है। संस्कृति वर्गगत या जातिगत भी हो सकती है, स्थान-गत भी। वह एकदेशीय भी हो सकती है, अन्तर्राष्ट्रीय भी। भौगोलिक और ऐतिहासिक कारणों के समूह समय-समय पर संस्कृति की सीमाएँ निर्द्धारित करते रहे हैं। इन्हीं कारणों से विश्व-संस्कृति या मानव-संस्कृति के मूल तत्त्वों से सामञ्जस्य रखते हुए भी भारतीय संस्कृति युग-युग से विशिष्ट रही है। सुदीर्घ परम्परा में इसकी जड़ें होने के कारण ही इसमें कम गत्यात्मक बल नहीं रहा है। आज जब पाश्चात्य, योरोपीय संस्कृति की तूफानी गति ने इस प्राचीन संस्कृति की विशिष्टता के अस्तित्व पर प्रश्नवाचक लगा दिया है, तो युगों की झंझा झेल कर भी निष्कंप इस संस्कृति दीप-शिखा की परख और सुरक्षा का प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो उठा है।

नवयुग में भारतीय सांस्कृतिक चेतना को वाणी प्रदान कर उसकी विशिष्टता की रक्षा का प्रयास करनेवालों में जयशंकर प्रसाद भी हैं। उन्होंने पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध से अभिभूत पतनोन्मुख भारतीय समाज की आँखें खोलने के लिए इतिहास के उस काल की वैज्ञानिक खोज की जब हमारी सभ्यता-संस्कृति गौरव के चरम शिखर पर थी। और इस प्राचीन सांस्कृतिक चेतना को उन्होंने कला के कमनीय आवरण में व्यक्ति कर श्रेय को प्रेय बना दिया। इस दृष्टि से हम उन्हें भारतीय संस्कृति का कलाकार कहें तो यह असंगत नहीं।

संस्कृति के संबन्ध में प्रसाद जी की अपनी मान्यताएँ हैं। उनके अनुसार 'संस्कृति का सामूहिक चेतनता से, मानसिक शील और शिष्टाचारों से, मनोभावों से मौलिक संबन्ध है। धर्मों पर भी इसका चमत्कार-पूर्ण प्रभाव

दिखाई देता है······संस्कृति सौन्दर्यबोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है[1]।" यद्यपि संस्कृति विश्ववाद की विरोधिनी नहीं, फिर भी भौगोलिक परिस्थितियों तथा काल की दीर्घता आदि के कारण विभिन्न भू-भागों की विभिन्न संस्कृतियाँ विशिष्ट रूप धारण करती हैं। विभिन्न जातियों के सौन्दर्य-बोध संबन्धी रुचि-भेद को सांस्कृतिक बतलाते हुए प्रसाद जी साहित्य में इसका एक उदाहरण यह देते हैं कि, "भारतीय साहित्य में पुरुष-विरह विरल है और विरहिणी का ही वर्णन अधिक है। इसका कारण है भारतीय दार्शनिक संस्कृति। पुरुष सर्वथा निर्लिप्त और स्वतंत्र है। प्रकृति या माया उसे प्रवृत्ति या आवरण में लाने की चेष्टा करती है; इसलिए आसक्ति का आरोपण स्त्री में ही है।······स्त्रीत्व में प्रवृत्ति के कारण नैसर्गिक आकर्षण मानकर उसे प्रार्थिनी बनाया गया है[2]।" इसके विपरीत फारसी आदि साहित्य में पुरुष को ही विरह-वेदना का आश्रय बनाने की परंपरा है। इस रुचि-भेद का कारण संस्कृति-भेद है।

प्रसाद जी ने भारतीय संस्कृति के विविध पहलुओं का अध्ययन अपने नाटकों और काव्यग्रन्थों में भी प्रस्तुत किया है। भारतीय संस्कृति के आधार-स्तम्भ वेदों-पुराणों तथा बौद्ध और शैव ग्रंथों से उन्होंने व्यापक रूप से प्रेरणा ग्रहण की है।

अपने नाटकों में प्रसाद जी ने भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग को कला के माध्यम से उपस्थित कर नवयुग की म्रियमाण सांस्कृतिक चेतना को संजीवन प्रदान किया है। चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु, राज्यश्री, ध्रुवस्वामिनी आदि नाटकों में न केवल पात्र और घटनाएँ ऐतिहासिक हैं, वरन प्राचीन सांस्कृतिक वातावरण को भी सजीव रूप में उपस्थित किया गया है। विशाख नाटक में उत्तरकालीन पतनोन्मुख बौद्ध साम्प्रदायिक मनोवृत्ति की झाँकी है तो 'चन्द्रगुप्त मौर्य' नाटक में हिन्दूधर्म के तत्त्वों का अभिनयात्मक दिग्दर्शन। स्थूल रूप में परम्परागत हिन्दू संस्कृति का परिचय हम तीन पदों द्वारा दे सकते हैं—वर्णाश्रम व्यवस्था, कर्मफलवाद और जन्मान्तरवाद।

चन्द्रगुप्त नाटक में प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था की झांकी के साथ उसका मूल्यांकन भी है। पर्वतेश्वर द्वारा अपमानित चाणक्य की दर्पोक्ति देखिए—

---

१ काव्य और कला तथा अन्य-निबन्ध पृ० २ (संस्करण—सं०२००१)
२ वही, पृ० ३

'रे पददलित ब्राह्मणत्व ! देख, शूद्र ने निगड़बद्ध किया, क्षत्रिय निर्वासित करता है, तब जल—एक बार अपनी ज्वाला से जल ! उसकी चिनगारी से तेरे पोषक वैश्य, सेवक शूद्र और रक्षक क्षत्रिय उत्पन्न हों ! " "और, ब्राह्मणत्व एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धिवैभव है । वह अपनी रक्षा के लिए, पुष्टि के लिए और सेवा के लिए इतर वर्णों का संघटन कर लेगा ।" और भी—"राष्ट्र का शुभचिन्तन केवल ब्राह्मण ही कर सकते हैं । एक जीव की हत्या से डरनेवाले तपस्वी बौद्ध सिर पर मँडराने वाली विपत्तियों से, रक्त-समुद्र की आँधिओं से, आर्यावर्त्त की रक्षा करने में असमर्थ प्रमाणित होंगे ।" आम्भीक द्वारा कुचक्रों के सृजन का आरोप लगने पर चाणक्य कहता है—"ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है, और न किसी के अन्न से पलता है, स्वराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है ।...ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी, स्वेच्छा से इन माया-स्तूपों को ठुकरा देता है । प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है ।" हिंदू परम्परा में ब्राह्मण को जो महत्त्व मिला है उसका आधार उसकी यह सहज अनासक्ति और कल्याण-वृत्ति ही तो था । वर्ण-व्यवस्था के अतिरिक्त प्राचीन आश्रम-व्यवस्था का चित्रण भी प्रसाद जी की लेखनी द्वारा हुआ है । चन्द्रगुप्त नाटक के प्रथम अंक में गुरुकुल के वातावण की ओर संकेत है । प्राचीन संस्कृति का एक आलोक-स्तम्भ तक्षशिला गुरुकुल का छात्र सिंहरण आम्भीक को उत्तर देता हुआ कहता है—"गुरुकुल में केवल आचार्य की आज्ञा शिरोधार्य होती हैं अन्य आज्ञाएँ अवज्ञा के कान से सुनी जाती हैं राजकुमार ! " गुरुकुल का अधिकारी चाणक्य आम्भीक के तलवार खींच लेने पर कहता है—"गुरुकुल में शस्त्रों का प्रयोग शिक्षा के लिए होता है, द्वन्द्व-युद्ध के लिए नहीं ।"

गृहस्थ धर्म और पारिवारिक संबन्धों का मूल्यांकन भी अनेक प्रकार से हुआ है । 'एक घूँट' नाटक में पारिवारिक और मुक्त प्रेम का तुलनात्मक अध्ययन है । 'ध्रुवस्वामिनी, नाटक में विशेष परिस्थितिओं में विवाह-मोक्ष की समस्या पर इतिहास के आलोक में विचार है । 'अजातशत्रु' नाटक में बिम्बसार के वानप्रस्थ जीवन तथा 'राज्यश्री' नाटक में राज्यश्री की वैराग्य-वृत्ति की झांकियाँ हैं । संन्यासी और भिक्षु तो प्रायः सभी नाटकों में हैं—'राज्यश्री' नाटक में धर्मसिद्धि, शीलसिद्धि, 'स्कन्दगुप्त' में प्रख्यातकीर्ति, 'चन्द्रगुप्त, में दाण्डायन, 'अजातशत्रु' में गौतम उदाहरण हैं ।

कर्मफलवाद और नियतिवाद की झांकी भी नाटकों में मिलती है ।

'अजातशत्रु' का विरुद्धक नियति की डोरी पकड़ कर निर्भय कर्मकूप में कूद सकता है। 'स्कन्दगुप्त' के प्रयत्नों को नियति एकाधिक बार विफल कर देती है—एक बार तो भटार्क के विश्वासघात से वह नदी में बहते-बहते बचता है। अन्त में उसके कर्म फलित भी होते हैं तो निर्वेद की पीठिका में, जब देवसेना की प्रणय-उदासीनता उसके करुण एकाकीपन को घनीभूत कर उठती है।

जन्मान्तरवाद में विश्वास, आत्मा की अनश्वरता के प्रति आस्था अथवा चेतना की सर्वोपरि सत्ता में निष्ठा भारतीय जीवन की वह धुरी रही है जिसने परम्परागत सांस्कृतिक संस्थाओं तथा सामाजिक एवं वैयक्तिक प्रवृत्तियों का संचालन किया है। मृत्यु अंत नहीं, अतः आदर्श भारतीय न तो मृत्यु-भीत है, न एकमात्र भौतिक सुख-कामी। वह जहाँ एक ओर लोक-कर्त्तव्य करते हुए प्राणोत्सर्ग को प्रस्तुत रहता है, वहाँ दूसरी ओर लौकिक वैभव-विलास से उदासीन जीवन की चरम आध्यात्मिक अर्थवत्ता का पिपासु होता है। स्कन्द-गुप्त का जीवन उदाहरण है। कर्त्तव्य-पालन में बद्धपरिकर, पराक्रमी सम्राट् होकर भी वह विरक्त सा है। आजीवन कौमारव्रत की प्रतिज्ञा लेनेवाले उस धीरोदात्त वीर के इन शब्दों द्वारा उसका व्यक्तित्व साकार हो उठता है—

"यदि कोई साथी न मिला तो साम्राज्य के लिए नहीं—जन्मभूमि के उद्धार के लिए मैं अकेला युद्ध करूँगा। पुरगुप्त को सिंहासन देकर मैं वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करूँगा।" गीता में उपदिष्ट यह निष्काम कर्म-तत्परता भारतीय संस्कृति का सार है। इसी से भारतीय जीवन की वह नीतिमत्ता प्रेरित है जो परिणाम-निरपेक्ष कर्त्तव्य को धर्म की संज्ञा से विभूषित करने वाली है। हमारी सांस्कृतिक दृष्टि की विशदता मंदिर-मस्जिद-गिरिजाघर को धर्म की सीमा नहीं मानती, वरन् जीवन के सभी क्रियाकलाप में उसकी अन्तर्व्याप्ति मानती है। प्रेम और युद्ध में भी धर्म की मर्यादाएँ हैं। युद्ध में प्राण देना वीरों का धर्म है, किन्तु शरणागत या असहाय की रक्षा भी धर्म है। चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, पर्वतेश्वर आदि पात्रों के व्यवहार इसके दृष्टांत हैं।

साम्प्रदायिक या संघबद्ध धर्म के मिथ्यावरण को भेद धर्म के मूल तत्त्व को न समझने वालों के कारण जो विवाद समय समय पर उठते रहे हैं उनकी एक झांकी स्कन्दगुप्त नाटक में देखिए, जब एक ओर ब्राह्मण लोग बलि का उपकरण लिए और दूसरी ओर भिक्षु और बौद्ध जनता इसपर उत्तेजित दिखाई देती है। जब ब्राह्मण बलि देने का हठ करते हैं और धातुसेन, दंडनायक

आदि किसी के समझाए नहीं मानते तो प्रख्यातकीर्त्ति अपनी बलि देने को आगे बढ़ ब्राह्मणों को लज्जित और हिंसा से विरत करता है। इसके अतिरिक्त नाटकों में भारतीय संस्कृति के न जाने कितने तत्त्व हैं जिसकी पूर्ण विवेचना अधिक समय की अपेक्षा रखती है।

प्रसाद के काव्यग्रंथों में हम उदाहरण-स्वरूप यहाँ केवल कामायनी पर विचार कर सकेंगे। कामायनी प्रसाद की सांस्कृतिक चेतना का सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है। प्रसाद जी के ही शब्दों में—"जलप्लावन भारतीय इतिहास में एक ऐसी ही प्राचीन घटना है, जिसने मनु को देवों से विलक्षण, मानवों की एक भिन्न संस्कृति प्रतिठित करने का अवसर दिया। देवगण के उच्छृंखल स्वभाव, निर्बाध आत्मतुष्टि में अन्तिम अध्याय लगा और मानवीय भाव अर्थात् श्रद्धा और मनन का समन्वय होकर प्राणी को एक नए युग की सूचना मिली।" इस प्रकार इस प्रसंग को इतिहास के अतिरिक्त श्रद्धा और मनन के सहयोग से मानवता के मनोवैज्ञानिक विकास का रूपक भी कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में यह भारतीय परम्परा के अनुसार मानव-संस्कृति के आरम्भ, विकास और उत्कर्ष की गत्यात्मक कथा है।

आरम्भ का संकेत मनु और श्रद्धा के मिलन और तत्संबन्धी घटनाओं में है। आदि मानव की प्रधान वृत्ति थी श्रद्धा, जो रागात्मिका वृत्ति है, इसी के सहारे हिमवान प्रदेश में उजड़ी हुई सृष्टि फिर से आरम्भ करने का प्रयत्न हुआ। किन्तु असुर पुरोहित मिल जाने से मनु ने पशुबलि की। इसकी प्रतिक्रिया के रूप में उनकी पूर्व परिचित देव-प्रवृत्ति जाग उठी, जिसने इड़ा के सम्पर्क में आने पर उन्हें बुद्धिवादी सृष्टि-विधान की ओर प्रेरित किया। ऋग्वेद के अनुसार इड़ा बोधवृत्ति अथवा मेधस्वाहिनी नाड़ी भी मानी जा सकती है, जिसकी प्रेरणा से बौद्धिक सभ्यता, विज्ञान, राजतंत्र आदि का विकास होता है। श्रद्धाविहीन इस बुद्धिविकास के बीच और अधिक सुख की कामना से जब मन इड़ा या बुद्धि पर भी अधिकार करना चाहता है तो वह देवताओं का कोपभाजन बनता है। वर्त्तमान परमाणु-युग की विकसित सभ्यता मानों इसी कारण देव-शापित है। आज के युग के संशय और संघर्ष की व्यंजना 'कामायनी' की पंक्तियों में देखिए—

जब मनु यह कहकर इड़ा को बंदिनी बनाना चाहते हैं—

"मैं शासक, मैं चिर स्वतंत्र, तुम पर भी मेरा—
हो अधिकार असीम, सफल हो जीवन मेरा।"

तो जनता विद्रोह करती है—

"सिंहद्वार अरराया जनता भीतर आयी,
'मेरी रानी' उसने जो चीत्कार मचाया,
अपनी दुर्बलता में मनु तब हाँफ रहे थे
स्खलन विकंपित पद वे अब भी काँप रहे थे।"

मनु पर जनता के इस आरोप में वर्त्तमान यंत्र-सभ्यता की आलोचना है—

'प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रों से सब की छीनी।
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।'

साहसिक मनु अकेले संघर्ष करते हैं, किंतु परिणाम क्या होता है ?

"धूमकेतु सा चला रुद्र नाराच भयंकर,
लिए पूँछ में ज्वाला अपनी अति प्रलयंकर।
अंतरिक्ष में महाशक्ति हुंकार कर उठी,
सब शस्त्रों की धारें भीषण वेग भर उठीं।
और गिरीं मनु पर, मुमुर्ष वे गिरे वहीं पर,
रक्त नदी की बाढ़ फैलती थी उस भू पर।"

हिरोशिमा में मानव-सभ्यता मूर्छित हो चुकी है। उसे-'तुमुल कोलाहल-कलह में हृदय की बात' के समान श्रद्धा की शीतलवाणी की प्रतीक्षा है, जिसके एक संकेत से इच्छा, क्रिया और ज्ञान के गोलक समन्वित होकर शाश्वत, अनिर्वचनीय आनन्द की सृष्टि कर सकें। गाँधी, रवीन्द्र और विनोबा का भारतवर्ष श्रद्धा की यह वाणी सुना रहा है—जिस दिन मुमूर्षु विश्व सुनेगा वह मानव संस्कृति के लिए शुभ दिन होगा।

इस प्रकार ऐतिहासिक कथासूत्र तथा राग और बोध-वृत्तियों के सहारे वैयक्तिक मानव-मन के मनोवैज्ञानिक विकास के साथ-साथ सामूहिक संस्कृति के आरंभ, विकास और उत्कर्ष की व्यञ्जना भी कामायनी का विशेष सौन्दर्य है।

कथासूत्र के लिए प्रसाद जी ने प्रधानतया शतपथ ब्राह्मण का आधार लिया है, यद्यपि ऋग्वेद, भागवत पुराण आदि का प्रभाव भी कहीं-कहीं ग्रहण किया है[1] भारतीय संस्कृति के इन मणि-रत्नों की दिव्य प्रभा से प्रसाद जी का यह काव्य उद्भासित हो उठा है।

---

१ कामायनी का 'आमुख'

यद्यपि काव्य-विधान या शैली की दृष्टि से प्रसाद जी बहुत अधिक आधुनिक थे, फिर भी जीवन और काव्य को देखने के उनके दृष्टिकोण पर प्राचीन भारतीय संस्कृति की गहरी छाप थी, यह उनके 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' से भी विदित है। उदाहरण रोचक होगा। पूर्वी और पश्चिमी सौन्दर्य-दृष्टि की तुलनात्मक विशेषताएँ प्रसाद की पंक्तियों में देखिए—

"ग्रीक लोगों के सौन्दर्य-बोध में···स्वर्ग और नरक का, जगत् की जटिलता से परे एक पवित्रता और महत्त्व की स्थापना का मानसिक उद्योग दिखलाई देता है। और इसमें ईसाई धार्मिक संस्कृति ओत प्रोत है।···भारतीय उपनिषदों का प्राचीन ब्रह्मवाद इस मूर्त्त विश्व को ब्रह्म से अलग निकृष्ट स्थिति में नहीं मानता। वह विश्व को ब्रह्म का स्वरूप बताता है।

यही कारण है कि ग्रीस द्वारा प्रचलित पश्चिमी सौन्दर्यानुभूति बाह्य को, मूर्त्त को, विशेषता देकर उसकी सीमा में ही उसे पूर्ण बनाने की चेष्टा करती है और भारतीय विचारधारा जिज्ञासात्मक होने के कारण मूर्त्त और अमूर्त्त का भेद हटाते हुए बाह्य और आभ्यन्तर का एकीकरण करने का प्रयत्न करती है।"

'कामायनी' में मनस्तत्त्व का विवेचन

'कामायनी' प्रागैतिहासिक महाकाव्य होते हुए भी मनस्तत्त्व का सुन्दर विश्लेषण करती है। व्यष्टि और समष्टि-रूप से मानवता का विकास किन क्रमिक भावनाओं की वीथियों से होकर हुआ है, इसीकी रूपकात्मक व्यंजना 'कामायनी' की कथा का उद्देश्य है। आमुख में प्रसादजी कहते हैं—'जल-प्लावन भारतीय इतिहास में एक ऐसी ही प्राचीन घटना है, जिसने मनु को देवों से विलक्षण, मानवों की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया। देवगण के उच्छृंखल स्वभाव, निर्बाध आत्मतुष्टि में अंतिम अध्याय लगा और भाव अर्थात् श्रद्धा तथा मनन का समन्वय होकर प्राणी को एक नये युग की सूचना मिली।......यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी मिश्रण हो गया है। इसलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।' यद्यपि इससे यह व्यक्त होता है कि इति-वृत्तात्मक इतिहास का भावात्मक वर्णन-मात्र कवि को अभीष्ट था, फिर भी कवि मूल कथा को उसी रूप में; उन्हीं अंशों में ग्रहण करता है जिसमें उसकी आध्यात्मिक अथवा रूपक के रूप में मनोवैज्ञानिक व्याख्या अनिवार्य हो जाती है। उन्होंने कथा के सार रूप सत्य को रखा है, केवल तथ्य अथवा इतिहास को नहीं।

वैवस्वत मनु की कथा शतपथ ब्राह्मण में सिलसिलेवार रूप में वर्णित है। वहीं से प्रसादजी ने यह कथा ली: छान्दोग्योपनिषद् अथवा पुराणों की कथा को आधार नहीं बनाया। यद्यपि इड़ा के सम्बन्ध में कुछ ऐतिहासिक विवाद है, फिर भी मानवता के मनोवैज्ञानिक विकास की कहानी सत्य है।

इस प्रकार घटनाओं के ही नहीं, प्रकृति-चित्रण के मूल में भी कुछ ऐसे तात्त्विक भाव हैं जिनके क्रमिक विकास के आधार पर मानव-संस्कृति

की प्रगति हुई है। घटनाओं के नामकरण के आधार ये ही मूलभूत भावनाएँ हैं। पर संस्कृत शैली पर जब प्रसाद जी ने सर्गों का नामकरण किया तो नवीनता यह रक्खी कि किसी सर्ग के अन्तर्गत उसके शीर्षक सम्बन्धी भाव का ही नहीं, वरन् उससे सम्बद्ध सभी भावनाओं का समावेश किया। ये भाव इन्द्रधनुष के विविध रंगों-से समन्वित हैं। घटनाएँ और प्रकृति-वर्णन इन मूल-भावनाओं की प्रतिच्छाया मात्र हैं। उद्देश्य इन्हीं के क्रमिक उदय और पर्यवसान द्वारा मानवता का विकास दिखलाना है।

प्रथम 'चिन्ता' सर्ग है। जिस प्रकार सृष्टि के आदि में जल है—

नीचे जल था, ऊपर हिम था
एक तरल था, एक सघन,
एक तत्त्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन।

उसी भाँति मानवता के आरम्भ में चिन्ता। प्रलयकालीन जल-प्लावन के उपरान्त मनु चिन्तित, उदास बैठे हैं। प्रकृति में भी नीरवता है। प्रकृति मानव भावनाओं की अनुगामिनी भी है, और उनकी प्रेरणा देनेवाली भी। 'चिन्ता' में अन्य भावनाएँ भी निहित हैं—

बुद्धि, मनीषा, मति, आशा,
चिन्ता तेरे हैं कितने नाम।

एकाकी अतीत चिन्तन का फल कुछ नहीं होता, चिन्ता का अन्त निराशा से होता है। प्रकृति भी इस सर्ग के अन्त में कुहासा से भरी छोड़ दी गयी है। 'आशा' सर्ग में अरुणोदय होता है—

उषा सुनहले तीर बरसती
जय लक्ष्मी-सी उदित हुई।
उधर पराजित काल रात्रि भी
जल में अन्तर्निहित हुई!

प्रभात का सौंदर्य्य देखिए—

नव कोमल आलोक बिखरता
हिम संसृति पर भर अनुराग,
सित सरोज पर क्रीड़ा करता,
जैसे मधुमय पिङ्ग पराग।

यह स्वर्णिम रमणीयता कौतूहल को जन्म देती है। कहाँ वह विध्वंस और कहाँ यह रमणीय सौंदर्य !

इस कौतूहल का पर्यवसान इस विश्वास में होता है कि इन सभी परिवर्त्तनों के बीच कोई चिरन्तन, अनन्त, अपरिवर्त्तनशील भी छिपा है—

> हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम
> यह मैं कैसे कह सकता ?
> कैसे हो ! क्या हो ! इसका तो
> भार विचार न सह सकता।
> हे विराट् ! हे विश्वदेव !
> तुम कुछ हो ऐसा होता भान—
> मन्द गंभीर धीर स्वर संयुत
> यही कर रहा सागर गान

पर यह केवल सागर का गान नहीं मनु के हृदय की आवाज भी है।

इसी अनन्त व्यापक तत्व में विश्वास के साथ (जिसमें प्रसाद का रहस्यवाद निहित नहीं है) आशा का उदय होता है और तब अहं की भावना अपना रूप धारण करती है—

> मैं हूँ यह वरदान सदृश क्यों
> लगा गूँजने कानों में !
> मैं भी कहने लगा मैं रहूँ
> शाश्वत नभ के गानों में।

यही 'अहं' जीवन के प्रति अनुराग का जनक है, जिसकी प्रेरणा मनु को पाक-यज्ञ में प्रवृत्त करती है। वे शालियाँ चुनकर अग्नि को प्रज्वलित करते हैं। पूर्व संस्कृति का, जिसने प्रालेय लहरों में अस्तित्व खो दिया था, अब पुनरुदय होता है। यज्ञ से अवशिष्ट अन्न वे किसी संभाव्य जीवित अपरिचित व्यक्ति के लिए रख देते हैं; क्योंकि देवों की निर्वाध आत्मतुष्टि-मूलक संस्कृति की प्रालेय असफलता ने उन्हें सहानुभूति का पाठ पढ़ा दिया था। जहाँ मनु के हृदय में यह सहानुभूति उदित होती है, वहाँ प्रकृति में चाँदनी खिलती है मानों मानव-हृदय और प्रकृति किन्हीं अदृश्य सूक्ष्म तन्तुओं से जुड़े हों। संवेदनशील हृदय मनु को अब अकेलापन खलने लगता है। प्रकृति की नैश मधुरिमा उनके सूने हृदय में समा जाती है। और वहाँ माधुर्य और प्रेम की

आकांक्षा तरंगित होने लगती है। इस प्रकार 'आशा' सर्ग में क्रमशः ये भावनाएँ हैं—

कौतूहल, विश्वास, आशा, अहं-भाव, जीवन के प्रति अनुराग, पूर्व संस्कृति का पुनरुदय, सहानुभूति, संवेदनशीलता, माधुर्य और प्रेम की आकांक्षा।

इसके पश्चात् आशावान् मनु श्रद्धावान् होते हैं। वस्तुतः श्रद्धा ही हृदय की वह वृत्ति है जो किसी भी निराश हृदय को सान्त्वना, अवलम्ब, जीवन देने में समर्थ है। श्रद्धा में आत्मसमपर्ण है और है—

दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो अगाध विश्वास।

श्रद्धा में ही वह क्षमता है जो असफल, ठुकराए प्राणों को उत्साह की तरंगों से गतिशील बना सकता है और वही मानवता की विजय-कामना करती है। श्रद्धा काम की लड़की है—काम गोत्रजा श्रद्धा। अतः जहाँ श्रद्धा से सान्त्वना, आत्मसमर्पण, दया, माया, ममता, मधुरिमा विश्वास, उत्साह और मानवता की मंगल-कामना की भावनाएँ सम्बद्ध हैं वहाँ उसमें अभिलाषा का मूल भी है।

पर अभिलाषाओं की—काम की, कभी तृप्ति नहीं होती, क्योंकि वह स्वार्थ, सौन्दर्य और ऐन्द्रिकता के सहारे वासना में परिवर्त्तित हो जाता है, अतः काम के बाद 'वासना' सर्ग है। वासना के उन्माद के आतिशय्य से प्रणय-भाव के उद्घाटन के पश्चात् लज्जा स्वाभाविक है। इसीमें श्रद्धा का नारीत्व है। इस प्रकार—चिन्ता और निराशा में एकाकी अतीत-चिन्तन, फिर कौतूहल, फिर क्रमशः विश्वास, आशा, जीवन के प्रति अनुराग, संवेदना, फिर श्रद्धा और तदुपरान्त विलास और कामवासना तथा इनके आतिशय्य से लज्जा—यही मनु के जीवन की भावात्मक पहली सीढ़ियाँ रहीं और यही आज भी प्रत्येक मानव के जीवन का मनोवैज्ञानिक क्रम रहता है, जो भावनाओं के नाटक पितामह मनु ने खेले थे, आज भी सभी उन्हें खेलते हैं—सभ्यता का विकास ही इस मार्ग से हुआ है।

मनु की हिंसा-वृत्ति जाग्रत होती है। ऐंद्रिक वासना की दिशा ही और कौन-सी होती? मनु—मनन अथवा मन के प्रतीक! मन में हिंसा की उत्पत्ति से कर्म में प्रवृत्ति होती है—मनु को भी हुई थी। आज भी सभी को होती है। हिंसात्मक कर्म की ग्लानि अनुगामिनी है। पर हिंसा में एक बार प्रवृत्ति हो जाने पर कर्म-शृंखला मजबूत हो जाती है। कर्म फल के रूप में,

अधिकार का भूखा है। पर इसका अनिवार्य परिणाम होता है अतृप्ति, श्रद्धा से विरक्ति अथवा श्रद्धाहीनता, जिसके मूल में सर्वाधिकार-पिपासु मन की असफलता-जनित ईर्ष्या की भावना है। यह ईर्ष्या बुद्धि की ओर संकेत करती है जिसका प्रतीक है इड़ा। इड़ा का एक चित्र देखिये—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल।
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान!
था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा जीवन रस-सार लिए।
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिए।

इड़ा की मन्त्रणा से ज्ञान-विज्ञान की उन्नति होती है, अधिकार बनते हैं। बुद्धिवाद के द्वारा यंत्रों पर आधारित कृत्रिम सभ्यता का विकास होता है। पर नियन्ता मनु अर्थात् मन को नियमों का पालन सदा असह्य है। निर्बाध अधिकारों की अस्वास्थ्यकर तृषा संघर्ष और विप्लव को जन्म देती है। और तब विद्रोहिनी प्रजा के हाथों सत्ताधारी मनु की पराजय होती है। यहाँ प्रसादजी न केवल व्यक्तिगत मनस्तत्व के विकास की विवेचना करते हैं, वरन् सामाजिक मनोविज्ञान की तह में प्रवेश कर इतिहास की प्रेरणाओं का आवरण हटाते हैं। जब समृद्धि उच्छ्वसित हो उठती है तो प्रलय, संघर्ष और विप्लव संघटित होते हैं। यह संघर्ष मूर्छाजनक है, नाशकारी है। 'इड़ा' की यह उक्ति सत्य ही है—

निर्बाधित अधिकार आज तक किसने भोगा?

इस बौद्धिक पराजय के अवसर पर श्रद्धा का अनायास उदय होता है जो मन की रक्षा कर लेती है। इड़ा अपनी हार स्वीकार करती है—

मेरा साहस अब गया छूट।

वैभव, विलास और अधिकारों के प्रति संघर्ष-जनित उपेक्षा तथा विराग-भावना निर्वेद की रूपरेखा निश्चित करती है। श्रद्धा का वास्तविक मूल्य तभी पहचाना जा सकता है। मनु विलास-लालसा को तिलाजलि दे तप के जीवन को अपनाते हैं। परन्तु शुष्क तपस्या श्रांति-जनक है। इस श्रांति में श्रद्धा ही का सहारा है। श्रद्धा ही मन को, दर्शन की सीमा अतिक्रांत कर, उस रहस्य-लोक में ले जाने में समर्थ है जहाँ इच्छा, ज्ञान और कर्म अपने तात्त्विक रूपों में जाने जा सकते हैं, उनकी गुत्थियाँ खुलती हैं। विश्व की समस्त विषमता इन तीनों के उचित सामंजस्य के अभाव के कारण है। और अन्त में श्रद्धा की ही प्रेरणा से, उसके ही स्मित-संकेत से इच्छा, ज्ञान और कर्म

का सामंजस्य हो सकता है जिससे चेतना शाश्वत आनन्द में मग्न हो जाती है। अस्तित्व की यही चरम सार्थकता है।

इन सभी का सारांश इतना ही है कि श्रद्धा वृत्ति ही मन को शाश्वत आनन्द तक पहुँचाने में समर्थ है। इड़ा अथवा बुद्धिवाद उसमें बाधक बनता है, पर उसकी पराजय निश्चित है।

मानवता के मानसिक विकास का यह चित्रांकन, मनस्तत्व की यह अपूर्व समीक्षा संसार के साहित्य में कदाचित ही कहीं मिले! मानवता का महाकाव्य प्रस्तुत कर इसके द्वारा प्रसाद जी ने प्रमुख विश्व-साहित्य-स्रष्टाओं के समकक्ष स्थान पाया है। जीवन के इसी मौलिक विश्लेषण के कारण 'कामायनी' अमर रहेगी।

हिन्दी का वीर-साहित्य

साहित्य-सरिता का प्रारम्भिक प्रवाह, यदि उसका विकास जीवन की स्वाभाविकता को लेकर हुआ है, सङ्घर्षमयी परिस्थितियों के बीच अपना अस्तित्व कायम करने की अनिवार्यता के कारण प्रखर एवं वेगवान् रहता है। उसमें अल्हड़ वेग और उच्छृङ्खल आकुलता मानो स्वभाव से ही रहती है। न केवल भाषा ही नवजात होने के कारण अपरिष्कृत एवं परुष तत्त्वों से मुक्त रहती है वरन् भावनाएँ भी सद्यः विकसित प्रसून की तरह अपने सभी दल नहीं खोलतीं। वह काल—किसी नवीन भाषा में साहित्य-रचना का वह प्रथम प्रभात—जातीय-जीवन के संघर्षों का ही होता है, जिसमें सभ्यता अपनी सत्ता के लिए युद्ध में संलग्न होती है, और संस्कृति आशा की प्रकाश-रश्मियों में अपनी अलसित आँखें खोलती है। हिन्दी-साहित्य के जन्म-काल की कहानी भी कुछ हद तक ऐसी ही परिस्थितियों में छिपी है।

हिन्दू साम्राज्य नष्ट हो चुका था। देश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँटा था, मानों विधाता ने भारत के भाग्य के सौ टुकड़े कर दिए हों। ये छोटे राज्य, अपनी लघुता में भी अहङ्कार से अभिभूत, अपनी ही काल्पनिक महत्ता के स्वप्न देखनेवाले, भारत की समष्टिरूप से भारतीयता की ओर से सर्वथा उपेक्षापूर्ण, निरन्तर आपस के ही झगड़ों में व्यस्त रहते थे।

विदेशी भारत की गुलामी का परवाना लिए पश्चिम का द्वार खटखटा रहे थे और ये बेसुध क्षत्रिय आपस में ही मूंछें ऐंठ रहे थे। इनके गृह-युद्ध के कारण रूप में व्यक्तिगत अपमान अथवा किसी सुन्दरी के रूप-गुण की कीर्त्ति सुन कर उसके अपहरण करने की अभिलाषा होती थी। कोई राष्ट्रीय गौरव की भावना, देश को आततायियों से रक्षा की कोई प्रेरणा इन युद्धों के मूल में न रहती थी।

अतः हम देखते हैं कि इस समय जिस साहित्य की सृष्टि हुई है, उसमें तलवारों की झनझनाहट और चमक तो है, पर पौरुष की वह जोशीली जय-ध्वनि नहीं जो वीर-काव्य में अपेक्षित है। तलवारों की झनझनाहट के बीच नूपुरों की रुनझुन है, वीरों की यशःपताका को उड़ाने की प्रेरणा कामिनी के ऊर्मिल अंचल से उद्भूत है। इस काल के वीर-काव्य को हम वीराभास-काव्य (Pseudo-heroic) ही कहेंगे, विशुद्ध वीर-काव्य नहीं। दलपत-विजय का 'खुमान रासो', नरपति नाल्ह का 'वीसलदेव रासो' और चन्दवरदाई का 'पृथ्वीराज रासो' सभी अपनी अतिशय शृंगारिकता के कारण विशुद्ध वीरता के उच्चासन के अनधिकारी हैं। एक डूबते हुए राष्ट्र के हृदय में इतना बल कहाँ रह गया था कि वह वीरता का शंखनाद करता।

शीघ्र ही भारत ने अपनी आजादी खो दी। चारणों का आश्रयदाता अब कौन था? अब वे किसकी वीरता की प्रशंसा के गीत गाते? अतः देश के कवि ने लौकिक वैभव से निराश प्राणों का उपचार अलौकिक ऐश्वर्य की उद्भावना द्वारा किया और निर्गुण पन्थ के सन्त-काव्य, प्रेम-काव्य तथा सगुणोपासना के राम-काव्य, कृष्ण-काव्य आदि चल पड़े। साहित्य-स्रोतस्विनी का प्रारम्भिक अल्हड़ वेग अब शान्त स्निग्ध था!

पर एक महान् देश की आत्मा चिरकाल तक कुचली न जा सकी। जो चिनगारी अब तक मुसलमानों के शासन में दबी-दबी बलती आ रही थी उसे अदूरदर्शी औरङ्गजेब के अनाचारों ने प्रज्वलित कर दिया। शिवाजी का सिंह-नाद गूँज उठा। महाराष्ट्र की पहाड़ियों में भारत की पीड़ित आत्मा का विद्रोह प्रतिध्वनित हुआ। इसी प्रतिध्वनि को भूषण ने अपनी वाणी में चिरन्तन रूप प्रदान किया। भूषण की कविता तत्कालीन रीति-पद्धति पर होने के कारण परम्परा-पालन तो है ही, एक राष्ट्रीय वीर की कीर्तिगाथा का स्वर उसमें समन्वित रहने के कारण यथेष्ठ प्रगतिशील भी है। एक वार की प्रशंसा में लिखी गई कविता, जिसका आलंबन वीर नायक अथवा शत्रु, उद्दीपन रणवाद्य, शत्रु के अत्याचार आदि और अनुभाव युद्ध-कार्य होते हैं, उसे किसी की खुशामद में लिखी गई कविता कह कर नहीं टाला जा सकता। भूषण की कविता में वीर-रस का अच्छा परिपाक हुआ है। राष्ट्रीयता, आधुनिक विचार से चाहे न हो, पर उस समय की राष्ट्रीयता हिन्दू राष्ट्रीयता ही थी। मुसलमान देश के अंग न हो पाए थे। भारत में बस जाने पर भी वे अपने को

अरब-फारस का समझते थे। अतः देश की तत्कालीन राष्ट्रीय भावना का प्रतिनिधित्व भूषण कर सके हैं, इसमें सन्देह नहीं।

भूषण के पश्चात् वीरता की भावना हम भारतेन्दु की रचनाओं में पाते हैं। भारतेन्दु युग-पुरुष थे। नवीन युग की आशा-आकांक्षाओं को उन्होंने वाणी दी। उस वाणी में नवागत अँगरेजों की अधीनता से आक्रान्त भारतीय आत्मा का विद्रोह मुखरित हुआ। उस विद्रोह में केवल भावावेश न था, वरन् थी एक जाग्रत देश की, सदियों की सुषुप्ति के पश्चात् आत्म-निर्माण की प्रबल प्रेरणा—सम्पूर्ण भारत एक साथ बोल उठा—

आवहु! सब मिलि कै रोवहु भारत भाई।
हा! हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥
अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात, इहै अति ख्वारी॥
ताहू पै मँहगी, काल रोग विस्तारी।
सब कै ऊपर टिक्कस की आफत भारी॥

कुछ ही दशाब्दियों बाद आनेवाले जनान्दोलनों का बीज, सविनय अवज्ञा, स्वदेशी आन्दोलन, कर-बन्दी की मानो मूल प्रेरणा हम भारतेन्दु की उक्त पंक्तियों में पाते हैं।

जोश और खरोश वाली वीरता जो पानी में आग लगा दे, मुर्दे दिलों में नया जीवन फूंक दे, यौवन में अल्हड़ तूफान भर दे, ऐसी वीरता की भावना उनकी 'विजयिनी-विजय वैजयंती' आदि में देखिए। देश की अधोगति पर मर्माहत व्यथा से जलने वाले हृदय का एक चित्र इन पंक्तियों में देखिए—

हा चितौर! हा हा पानीपत!
अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत!!
जा दिन तुव अधिकार नसायो
ता दिन क्यों नहिं धरनि समायो!

चित्तौर, पानीपत आदि का नाम ही हिन्दू-हृदय में गौरव और वीरता का संचार करने वाला है।

पर अधिकतर भारतेन्दु ने हृदय की वेदना ही व्यक्त की है। देश की अवनत अवस्था पर आठ-आठ आँसू रोने में ही उनकी कविता प्रवृत्त रही है। क्रान्ति का उग्ररूप, विध्वंस और महानाश के ताण्डव का अट्टहास, जिसमें

आत्म-बलिदान की प्रेरणा हो, ऐसी वीरता वर्त्तमान युग में ही देखी गई। 'एक भारतीय आत्मा' की—

सफलता पाई अथवा नहीं,
उन्हें क्या ज्ञात, दे चुके प्राण।
विश्व को चाहिए उच्च विचार,
नहीं, केवल अपना बलिदान॥

अथवा—

चाहती हो बुझना यदि आज,
होम की शिखा बिना सामान॥
अभय हो, कूद पड़ूँ जय बोल,
पूर्ण कर लूँ अपना बलिदान॥ —दिनकर (हुँकार)

जैसी पंक्तियाँ आज ही लिखी गईं।

वर्त्तमान असहयोग-आन्दोलन की क्रियात्मक अनुभूति इसके पीछे है। युग-देवता गान्धी की आत्मा की ज्योति में रची गई हैं ऐसी कविताएँ, फिर क्यों न युवक इस बलिदान-गीत पर न्यौछावर हों। भारत में बलिदानों का ताँता लगा, देश पर मिटनेवाले युवकों ने अहिंसात्मक वीरता का नया पाठ पढ़ा—शहीद होने में ही अमरत्व की अनुभूति प्राप्त की—

इन्हें मिटा लो चिन्ता क्या,
मिट कर शहीद कहलाएँगे।
पर इनके शोणित से लाखों
दीवाने बन जाएँगे॥ —लेखक

पर साथ-साथ जहाँ निर्मल जलधारा की अबाध गति शैल-खण्डों से अवरुद्ध होती है, वहाँ फेन और झाग की पर्याप्त सृष्टि होती ही है। इसी नियम के अनुसार राष्ट्रीयता की इस निर्मलधारा के दमन के प्रयास ने उस उग्र क्रान्ति की भावना को जन्म दिया जिसका प्रतिनिधित्व 'नवीन' की इन पंक्तियों में है—

कवि कुछ ऐसी तान सुना दे,
जिससे उथल - पुथल मच जाए।
एक हिलोर इधर से आए,
एक हिलोर उधर से आए॥
प्राणों के लाले पड़ जाएँ,
त्राहि-त्राहि रव नभ में छाए!

अथवा आरसी की निम्नलिखित पंक्तियों में—

माँ, मेरी ध्वंसक वीणा में
यौवन का उद्धतपन भर दे!
स्वर के एक-एक कम्पन में
महानाश का नर्त्तन भर दे!!
जिसके तीक्ष्ण तान को सुन कर
काँप उठे गिरि - गह्वर सारे!
थर्रा दें दिगन्त को जिसके
तारों के उन्मत्त इशारे!!

इसमें विध्वंस का जोश तो है, पर निर्माण की वह क्रियात्मक प्रेरणा नहीं, जो क्रान्ति के मूल में होनी चाहिए। अतः यह हमारी वीर-भावना की प्रकृत भाव-भूमि नहीं। आज की वीरता विध्वंस को लक्ष्य कर नहीं चलती, न आज शत्रु को पीड़ित, अपमानित या पददलित करने में ही हम अपने वीर-कर्म की इतिश्री समझते हैं। शत्रु के व्यक्तित्व के विरुद्ध नहीं, उसकी नाति के विरुद्ध ही हमारे युद्ध की घोषणा होती है। व्यक्तिरूप से तो आज सारा संसार हमारा बन्धु है—एक ही विराट् से उत्पन्न सहोदर। विश्व-बन्धुत्व का यह आदर्श अभिनव छायावाद में सम्यक् रूपेण मुखरित हुआ है। आज जब हमारी यह स्थिति है कि—

देखा दुखी एक भी भाई,
दुख की छाया पड़ी हृदय पर मेरे,
झट उमड़ वेदना आई॥

तो यह नितान्त असंभव है कि हम किसी व्यक्ति अथवा समाज-विशेष से शत्रुता रक्खें। मुसलमान हमारे बन्धु हैं, अँगरेज हमारे मित्र! यदि हमारा विरोध है तो उनकी भूलों से—उनकी भ्रान्त नीति से! ठीक उतना ही जितना हमें अपनी कमजोरियों के प्रति विद्रोह है।

इस चेतनाधार को लेकर चलनेवाला वीर-काव्य कभी हिंसा का प्रतिपादन नहीं कर सकेगा और न उसमें कटुता ही होगी! वह उत्कृष्ट, श्रेष्ठ वीरता का उच्छ्वास होगा, जिसमें हिंसा के बदले आत्म-बलिदान, विध्वंस के बदले निर्माण, द्वेष एवं कटुता के बदले प्रगतिशील प्रेम की भावना का ही प्राधान्य होगा। हिन्दी-कविता ने इस युग में इस उच्चादर्श को प्राप्त किया है।

प्रेमचन्द का गोदान

"नाना रूपिणी माया जब व्यक्ति को अन्य सबके प्रति एक प्रकार के विरोध से उकसाकर उसे अहंभाव में दृढ़ रखने का आयोजन करती है, तब उसके भीतर का गुप्त सच्चिदानन्द इस आयोजन को तोड़-फोड़ कर स्वयं प्रतिष्ठित रहने को सतत उत्सुक रहता है। यह द्वन्द्वावस्था ही जीवन की चेष्टा का और उपन्यास का मूल है। यही साहित्य-क्षेत्र है।

प्रेमचन्दजी इस द्वन्द्वावस्था को अच्छी सूक्ष्म दृष्टि और सहानुभूति के साथ चित्रित करते हैं और इस द्वन्द्व में वह जिस निर्मल प्रेमभाव की प्रतिष्ठा करते हैं वह देहातीत होता है—वह बीतते हुए समय के साथ मिटता नहीं। वह सेवामय प्रेम दुनियादारी की गलतफहमिओं की, अज्ञानता की, विफलता की, दीनता की कितनी ही कठिनाइयों के साथ लड़ता-झगड़ता हुआ भी अक्षुण्ण और उत्सर्गतत्पर रहता है और रह सकता है—इसका चित्र प्रेमचन्दजी सजीव करके उठा देते हैं। वही सजीव प्रेम, अर्थात् सत्य जो स्वयं टिकाऊ है, उनकी कृति को भी चलते समय के साथ मरने नहीं देगा। मैं कहता हूँ कि प्रेमचन्दजी ने अपनी कृति में जो चिरस्थायी और कर्मशील प्रेम का बीज रख दिया है, वह सामयिक नहीं है, उसमें स्थायित्व है।"[१]

उपर्युक्त पंक्तियों में जैनेन्द्रजी ने प्रेमचन्द की कला के विषय में प्रायः जो कुछ कहा जा सकता था, सूत्र रूप में कह डाला है।

असीम मानव का अपूर्ण जीवन अपनी लघु चेतना को लेकर उस असीम चेतनामय पूर्णता से एकाकार होने को सतत प्रयत्नशील है, जिसकी छाया में

---

१ 'प्रेमचन्द की कला' शीर्षक निबन्ध—जैनेन्द्रकुमार।

जड़-चेतन प्रकृति प्रतिपल स्पन्दित और गतिवान है; जो विश्व का आदि, मध्य और अन्त है। व्यक्ति के जीवन में अपूर्ण की पूर्णता का यही प्रयास कला की जननी है। इस पूर्णता में रुकावट आती है, देश और काल की। इन्हीं सीमाओं को पार करने में कला की विजय मैं मानता हूँ। इस विजय में 'प्रेम' साधन है, 'सत्य' साध्य।

मेरे कहने का मतलब सीधा है। मनुष्य जितना ही अपने व्यक्तित्व की परिधि बढ़ाता जाता है, वह जितना ही अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को भूल कर विश्व के अधिक-से-अधिक हिस्से को अपना समझ उसके लिए त्याग करता है और उसके सुख-दुख से प्रभावित होता है, और उसमें योग देता है, उतना ही उसे स्थायी सन्तोष, शान्ति और आनन्द मिलते हैं। इसमें यह शरीर अथवा इन्द्रियाँ, अथवा उसका 'अहं' बाधक है। इसी 'अहं' के विरुद्ध और विश्व के एकत्व के पक्ष में युद्ध करना मानव का 'सत्य' है। इस युद्ध की प्रेरणा हमें मिलती है 'प्रेम' से। अपने प्रेम के दायरे को हम जितना ही विस्तृत, देशकाल की सीमाओं से मुक्त, और अपार्थिव बनाएँगे, उतना ही हम विश्व के एकत्व के अधिक निकट पहुँचेंगे। प्रेम के दायरे के विस्तार का सतत प्रयास ही कला है और उसकी शाब्दिक अभिव्यंजना साहित्य।

हमें देखना है गोदान में प्रेमचन्द्रजी ने इसकी अभिव्यंजना में कहाँ तक सफलता पाई है।

गोदान की कथावस्तु सर्वांश में भारतीय है। पर उसमें कुछ ऐसी बातें हैं जिनके कारण वह केवल भारत ही की नहीं विश्वभर की चीज है, क्योंकि उसमें जो जीवन का जाग्रत स्पन्दन है वह एकदेशीय ही नहीं है—वरन् सर्व-कालिक भी। ऐसा मालूम पड़ता है, जैसे दो कथानक एक साथ चल रहे हों, जिसमें एक में होरी और धनियाँ की प्रधानता है और दूसरे में मिस्टर मेहता और मिस मालती की। पर यह सच नहीं। मूल कथानक एक ही है, जिसकी नायक-नायिका होरी-धनियाँ हैं। उन्हीं से कथा का आरम्भ है और उन्हीं से अन्त। होरी—एक प्रतिनिधि भारतीय किसान—की सब से बड़ी आकांक्षा होती है एक गाय लेने की। गाय—एक साधु, शान्त और परोपकारी जीव, त्यागमय, परोपकार-पूर्ण कृषक जीवन का प्रतीक है! फिर उसी गाय के पीछे कैसी-कैसी घटनाएँ घटती हैं। पर सभी स्वाभाविक रूप से। लेखक पाठक के ऊपर कोई आकस्मिक आघात नहीं पहुँचने देना चाहता। वह उसे अधिक देर तक उत्कण्ठायुक्त और उत्सुक नहीं रखता और न परदे

के पीछे संचित होनेवाले घटनाक्रम के अकस्मात् रहस्यभेद से उसे आश्चर्य चकित और स्तम्भित कर देना चाहता है। वह जैसे पाठक से कोई भेद छिपाता ही नहीं। जैनेन्द्र के शब्दों में, अपने "पाठक के साथ मानो वे अपने भेद को बाँटते चलते हैं। अंग्रेजी में कहेंगे कि वह पाठक को Confidence में, विश्वास में ले लेते हैं।" फिर भी मनोरंजकता में या कौतूहल में कोई ऐसी कमी नहीं आती। यही प्रेमचन्द की विशेषता है, जो शरत और बंकिम मे भी दुष्प्राप्य ही होगी। दूसरे शब्दों म प्रेमचन्दजी ने सत्य का चित्रण सहज स्वाभाविक ढंग से किया है।

घटना में उतार-चढ़ाव है पर आकस्मिक अथवा झटके नहीं। मानो कथानक का प्रवाह चंचल पहाड़ी निर्झरिणी की भाँति नहीं, वरन् शान्त, स्निग्ध मन्द पवन द्वारा प्रकम्पित, मृदुल लहरियों से युक्त वेगवती नदी के समान है। उसमें मर्म विशालता भी है, अर्थ-गम्भीरता भी। एक गौरव-युक्त महिमा है उसमें जो समय के साथ मिटनेवाली नहीं, क्योंकि उसमें अकलुष, निर्बन्ध प्रेम की व्याख्या है। उस व्याख्या का आधार है होरी-धनियाँ, गोबर-झुनियाँ, मातादीन-सिलिया, मि० मेहता-मालती और खन्ना-गोविन्दी के प्रेम के रूपों का सामञ्जस्य। जिस प्रेम का आदर्श प्रेमचंदजी ने गोदान में ध्वनित किया है, वह अडिग है, बाधाओं और विपरीत-परिणामों से नहीं कमनेवाला[1] है; सर्वदेशीय है और दुश्मन को भी अपनी सीमाहीन छाया के अन्दर विश्राम देने वाला है,[2] शाश्वत है, यौवन का उन्माद और रूप का नशा उतर जाने पर भी अशेष न होनेवाला[3] और है वह निरीह, निस्पृह, जो अपने उपकारों का बदला चाहे विना, प्रतिदान चाहे विना ही अपनी अतुल सम्पत्ति विश्व के चरणों पर बिखेरता है।[4] उस प्रेम में त्याग है, समर्पण है, और है जीवन की अमिट साधना जो काल से भी दुर्गम है। इसी प्रेम की प्राप्ति के पश्चात् जीवन का सत्य मिल जाता है। फिर कुछ पाने की अभिलाषा नहीं रहती। रूप, सम्पत्ति, यौवन और सभी बाह्य उपकरण निष्प्रयोजन हो जाते हैं और सेवा ही जीवन का व्रत बनता है, जिससे जीवन का महत्तम सुख, महत्तम

१—जिसका प्रतीक है सिलिया।
२—जिसका प्रतीक है होरी।
३—जिसका प्रतीक है धनियाँ।
४—जिसका प्रतीक है मालती।

सन्तोष और चरम शान्ति का लाभ होता है। उदाहरण है, मिस मालती की परिवर्तित अवस्था जो मि० मेहता जैसे दार्शनिक व्यक्ति के संसर्ग से सम्भव हुई। मेहता दार्शनिकता के बोझिल पंखों पर चढ़कर अनुभूति की जिस ऊँचाई तक नहीं चढ़ सके वहाँ मालती सहज प्रेम और आत्मसमर्पण द्वारा पहुँच सकी। इसमें ज्ञान पर प्रेम की विजय की व्यञ्जना है। शायद प्रेमचन्द कहना चाह रहे हों—परीक्षक की वैज्ञानिक दृष्टि से विश्व को देखने की अपेक्षा विश्व जैसा है, उसे वैसा ही अपना लेना, अपने में समा लेना और अपने व्यक्तित्व से, प्रेम से रसमग्न कर देना कहीं श्रेयस्कर है! यह महान् लेखक का सन्देश है जो युग-युग तक गूँजता रहेगा और राष्ट्र और भाषा की सीमाओं की उपेक्षा कर विश्व भर को अनुप्राणित करता रहेगा।

फिर भी गोदान में प्रेमचन्द की भारतीयता मुखरित हुए बिना नहीं रही। आखिर व्यक्ति देशकाल विशेष का प्रतिनिधि भी तो है। इसका फल यह हुआ कि उन्होंने भारतीय ग्रामीण वातावरण के चित्रण में अभूतपूर्व सफलता पाई है। ग्राम्य-जीवन भारतीय संस्कृति का प्राण है। सदियों से भारत अपने प्राणों में पीड़ा पाले पड़ा रहा। साहित्य-मन्दिर के किसी भी पुजारी ने उसे वाणी देने की सुधि न ली। यह प्रेमचन्द-जैसे अमर कलाकार का काम है कि उन्होंने भारत की आत्मा की इस चिरकालीन मूकता को मुखर कर दिया।

और होरी के चरित्र में भारत का ग्रामीण जीवन बोल उठा। इतना दुःख, इतना अत्याचार, इतना उत्पीड़न फिर भी सब स्वीकार! मिहनत की रोटी भी नसीब नहीं, फिर भी अनवरत परिश्रम किए जाना दूसरों के लिए, केवल अपना कर्तव्य जानकर! इसे बेबसी कहें या महानता? होरी के चरित्र में एक मौन समर्पण है; उसकी सुकृतियाँ विज्ञापन की प्यासी नहीं, आत्म-सन्तोष की भूखी हैं। उसके व्यक्तित्व के चित्रण में मर्यादावाद की वकालत-सी नजर आती है पर उसके साथ-साथ सामाजिक रूढ़ियों की ओर व्यंग्य भरे संकेत भी हैं। व्यंग्य के इन चित्रों की पूर्ति में नोखेराम, लाला पटेश्वरी, दातादीन, झिंगुरी साव और दुलारी सहुआइन सहायक हैं। इन लोगों के चरित्र में हमें जीवन का स्पन्दन नहीं मिलता। जैसे ये मशीन के पुर्जे मात्र बच रहे हों, इनमें हृदय नामक कोई चीज रही होगी जो किसी व्यापक राज-नीतिक सत्ता की अनिवार्य गुलामी के फलस्वरूप अब अशेष हो चुकी है! ये केवल व्यवहारी जीव हैं, रुपया कमाने के फन में होशियार और उन मामलों में निर्मम जो समझौता नहीं जानते! इनके विशाल आडम्बरपूर्ण जीवन से

होरी के सरल, स्वाभाविक, सेवामय, कर्ममय जीवन पर अप्रत्यक्ष प्रकाश पड़ता है।

होरी और धनियाँ का चरित्र स्थिर (Static) है। उनमें बाह्य और आन्तरिक अधिक परिवर्तन नहीं। समय के साथ वे नहीं बदलते। पर 'गोबर' और कई अन्य चरित्र गत्यात्मक (dynomic) हैं। गोबर में अल्हड़ यौवन की इठलाती चाल है। वह आगे-पीछे सोचना नहीं जानता। उसका स्वभाव उस पहाड़ी झरने-सा है जो प्रथम बरसात की बाढ़ में ही उतराता चलता है, किसी को कुछ नहीं समझता, पिता-माता को भी नहीं, जिन्होंने जन्म से ही उसे पाला-पोसा, अपने हृदय के रक्त से सींच कर उसके जीवन-तरुवर को बड़ा किया। पर दुःखों की ठोकर खाकर वह भी ठीक हो जाता है। दुःख उसके जीवन में शिक्षक की भाँति आता है और उसे वस्तु-स्थिति का ज्ञान करा उसके पूर्व जीवन की उच्छृङ्खलता उससे दूर कर देता है। फिर वह भी समझने लगता ह और झुनिया भी समझने लगती है कि प्रेम क्या है। प्रेम में अभिमान की, स्वार्थ की, अहं की गुञ्जाइश ही कहाँ—यह मनुष्य तभी सीख पायगा जब वह कुछ पाकर खो देगा, जब उसे ठोकरें लगेंगी; और यह समझ लेने पर वह अपने को विश्व में खो देगा।

मालती फूलों की सेज पर पली, उसने सदा सुख के सपने देखे। वभव ही उसका संगी रहा। फिर भी 'जो सुख उसने प्रेम की वास्तविकता समझकर, दीन-दुखियों की सेवा में पाया, वह उसे पहले कहीं नहीं मिला था। वह प्रेम के उस आदर्श पर पहुँची जहाँ कुछ पाने की, कुछ अपनाने की अभिलाषा ही नहीं रह जाती। मि० मेहता से विवाह इसलिए तो नहीं किया उसने ! अधिकार के बदले समर्पण ही उसे अधिक प्रिय था—वह समर्पण जो किसी एक व्यक्ति के सीमित दायरे में न रह विश्व भर के प्रति किया जाता है। उसी से उसका जीवन धन्य हो गया। उसने वह पाया जो शायद खन्ना और तन्खा और रायसाहब भी कभी नहीं पा सकते। इन लोगों का जीवन आत्म-भोग को प्रधानता देता था, अपनी ही व्यक्तिगत महत्ता में सन्तोष खोजता था। अतः उन्हें वह मिलता कैसे जो आत्मदान में है। ये पैसे के, ख्याति के, प्रतिष्ठा के पुजारी अन्त तक असंतुष्ट रहे।

चरित्र-चित्रण में आदर्शों की व्यंजनामात्र ही नहीं है वरन् कला-कौशल भी है। जिस चरित्र को उठाया, उसकी रूप-रेखा ऐसी खींच दी की पाठक को पता नहीं लगा कि यह काल्पनिक है या वास्तविक ! पर वे पहले आन्तरिक

रूपरेखा खींचते हैं। पात्र का मनोविज्ञान, पात्र का अन्तःकरण वे पहले टटोलते हैं। तब फिर वे जब आवश्यकता हुई, तो वाह्य रूप-रेखा भी अंकित करते हैं। पहला कार्य वे कथोपकथन द्वारा सिद्ध करते हैं, जिसमें पात्रों की अनुकूलता की विशेषता रहती है। आप कथोपकथन की भाषा, शब्दयोजना और शैली से ही समझ जायँगे कि यह अधेड़, नर्म स्वभाव वाला, समझदार होरी बोल रहा ह या उद्धत युवक गोबर; यह व्यवहार-कुशल तंखा अथवा खन्ना की आवाज है या आदर्शवादी और गम्भीर दार्शनिक मेहता की ? कथोपकथन द्वारा व्यक्त पात्रों के विचारों मे भी उनकी स्थिति की अनुकूलता है, स्वाभाविकता है, मनोवैज्ञानिकता है।

इस प्रकार उनकी अन्य कई कृतियों की तरह गोदान में भी कला ने उनके आदर्शवाद का साथ दिया है। फिर भी आदर्शवाद पहले है, फिर कला। मानों आदर्श-प्रतिष्ठा को ही उद्देश्य मान कर वे लिखने बठे हों। क्योंकि कहीं-कहीं तो उन्हें हम खुले शब्दों में आदर्श की घोषणा करते पाते हैं। उदाहरणतः मेहता की वे उक्तियाँ हैं जहाँ उन्होंने नारी-जीवन का आदर्श बताया है, वही आदर्श जो उस समम मालती में नहीं था और फिर पीछे से आ गया। शायद मेहता के संसर्ग ने उसके हृदय में सोए हुए प्रेम को जगा दिया, इसीलिए। "जगत् में जो कुछ सुन्दर है, नारी को मैं उसी का प्रतीक समझता हूँ।" आदि वाक्यों का इससे सम्बन्ध है।

फिर भी यह कहना गलत होगा कि प्रेमचन्द उपदेशक पहले हैं, नकलाकार बाद में। वे दोनों एक साथ हैं। उनका कलाकार उनके उपदेशक के साथ चलता है। और कहीं भी उपदेशक उनके कलाकार को अभिभूत और पराजित नहीं करने पाया है। उनका उपदेशक बोलता है जरूर, पर अभिधा द्वारा नहीं, व्यंजना द्वारा।

वस्तुतः उन्होंने वसुधा के चिरन्तन सत्य का अभिनव सौन्दर्यमय प्रकाशन किया है जिसमें आदर्श की प्रतिष्ठा के कारण मानवता के अतिशय कल्याण की भावना निहित है। यह सत्य, यह सौन्दर्य, यह कल्याण, कालातीत है, देश की भी सीमाओं के परे। और इसीलिए, जैनेन्द्र के शब्दों में "प्रेमचन्दजी की कृति किसी न किसी हद तक विश्व और भविष्य की ओर बढ़ेगी। निस्सन्देह उसमें ऐसा बीज है!"